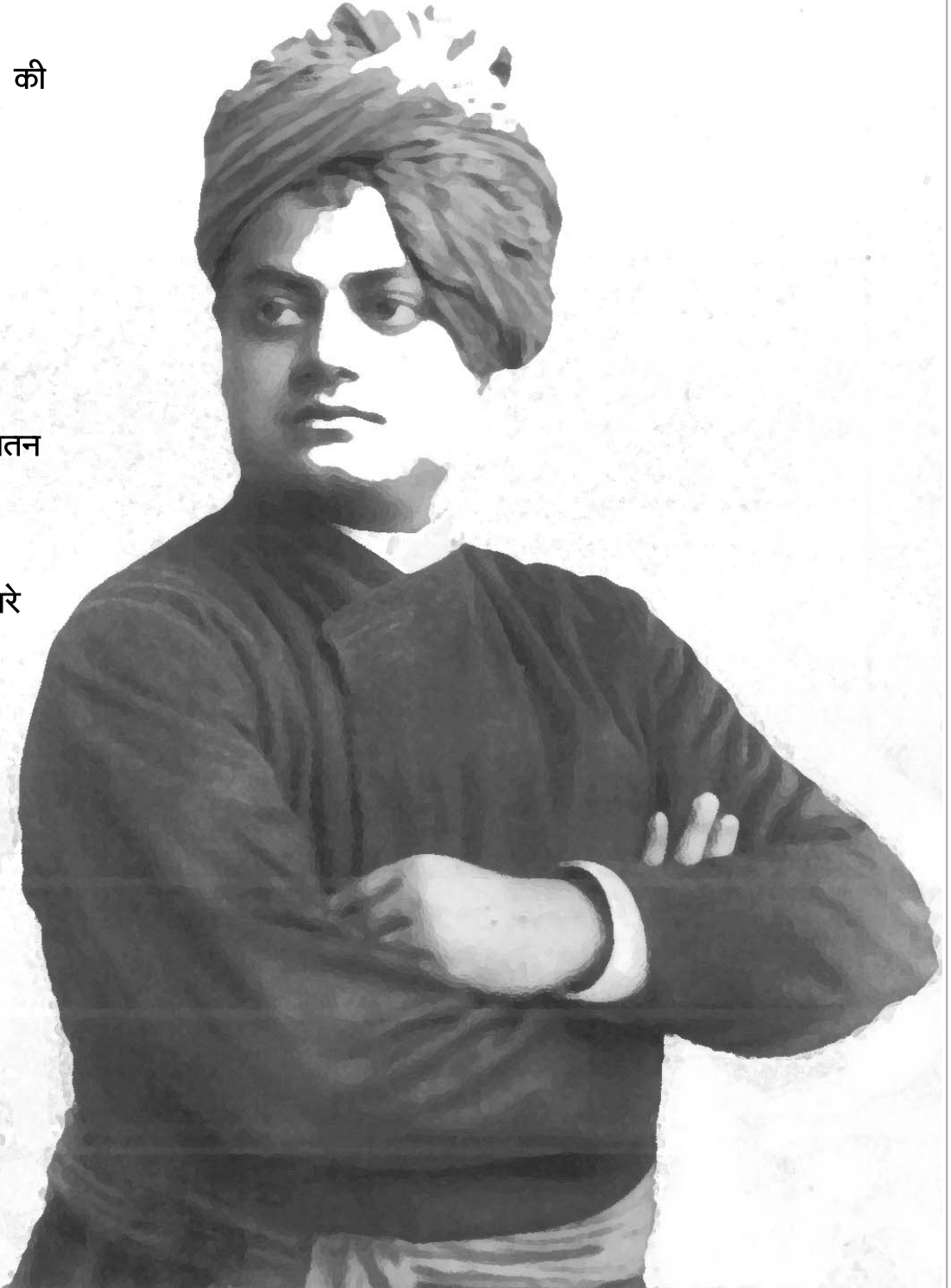


समरथ

जुलाई-सितम्बर 2018 ♦ नई दिल्ली



अपने कर्म फल की
वजह से इंसान
मर रहा है,
इसलिए
उनके साथ
दया दिखा कर
क्या होगा?
हमारे देश के पतन
का यही
जीता-जागता
प्रमाण है? तुम्हारे
हिंदू धर्म का
कर्मवाद
कहाँ जाकर
पहुँचा है!
मनुष्य होकर
जिनका
मनुष्य के लिए
दिल नहीं
दुखता है,
तो क्या वे
मनुष्य हैं?’



नाहि तो जन्म नसाई

‘दलित कविता जाग उठी’ उर्दू के प्रसिद्ध कवि हनीफ़ तरीन का नया काव्य संग्रह है जिसकी अधिकतर कविताएं हमारे इतिहास के विभिन्न युगों के उन अंधकारमय सामाजिक पहलुओं को उजागर करती हैं जो घोर शोषण, सामाजिक असमानता, अन्याय और उत्पीड़न का पर्याय हैं और दुर्भाग्य से जिनका सिलसिला आज़ादी के सत्तर साल बाद भी थमने का नाम नहीं ले रहा है। मगर इन कविताओं का एक सकारात्मक पहलू वर्तमान व्यवस्था को बदलने की तड़प और दृढ़ निश्चय है। इनमें एक ऐसे इंकलाब की आहट सुनाई पड़ती है जो आज के दलित आंदोलन का स्रोत है। समर्थ के पाठकों के लिए इस संग्रह से जो तीन कविताएं यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं उनकी एक महत्वपूर्ण बात ये भी है कि हिंदी पाठकों के सामने पेश करते हुए कहीं भी अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

जारी व्यवस्था को बदलूंगा

■ हनीफ़ तरीन

देश ने जब आज़ादी पाई
मैंने ख़ूब मनाई खुशियाँ
सोचा था जीवन बदलेगा
सदियों तक जो दुःख झेले हैं
उनसे मुझे छुटकारा मिलेगा
मगर व्यवस्था वही है अब तक

सदा से जिसमें जकड़ा हूँ मैं
बेकस-ओ-बेज़र' कल जैसा हूँ
देश जो मेरी माँ जैसा है
उसपे दबंगों का कब्ज़ा है
वोट की खातिर इन लोगों ने
सिर्फ़ दलित होने के कारण
मेरा 'सियासी रेप' किया है

जिस पीड़ा को दाना माँझी
सिस्टम के रोगों में लपेटे
सत्तर सालों से ढोता है

आजादी के सात दहों में
मेरा जो कुछ हाल हुआ है
उसका कर्ब² समेटे दिल में
एक मुद्दत से सोच रहा हूँ

क्यों न मैं अर्जुन बन जाऊँ
दुर्योधन को सबक सिखाऊँ

और अखाड़े में जीवन के
वक्रत को धोबी पाट लगाऊँ
जारी व्यवस्था चित्त हो जाए
मेरा हक मुझको मिल जाए

जिसके लिए सदियों तरसा हूँ¹
जिसके लिए फिर सरगर्दा हूँ¹

मैं कब तक यूँ ख्वार³ हूँगा

जिसने मुझको जीवन भर की
रूसवाई का श्राप दिया था
उस भगवान मनु की पूजा
करते-करते ऊब गया हूँ

पंडित जी को मान के आक्रा
उनकी गुलामी करते-करते
ठाकुर, वैश्य को जान के हाकिम
उनकी गालियाँ खाते-खाते
खुद से नफ़रत करने लगा हूँ

अपने नीच वजूद में डूबा
रह-रहकर यह सोच रहा हूँ
मुझसे तो गऊ माता अच्छी
जिसको दुनिया पूज रही है

लेकिन मैं एक इंसा होकर
जानवरों से भी बदतर हूँ

नफ़रत अपनों की सहता हूँ
गाली खाकर चुप रहता हूँ

व्याकुल रूह मेरी ज़ख्मी है
दुःख की मुझ में बर्फ जमी है

रामजी बोलो कब तक जारी
मुझ पर ये अन्याय रहेगा
धर्म के नाम पे
जबरो-सितम⁴ का
(ऊँच-नीच का और ताकत का)
अंधा कारोबार चलेगा
संविधान ने मुझे दिया है
कब वो रुतबा
पूरा मिलेगा
कब तुम ये रावण मारोगे
देश में कब सुराज रचेगा
सबके बराबर अमल-दखल का
हक मुझसे दुखियों को मिलेगा ?

क्या यह जंगल राज नहीं है?

पीले-पीले चेहरों वाले
नीली-नीली आँखें खोले
काले-काले दाँत निकाले
बेहंगम साँसों की बदबू
बस्ती-बस्ती फैलाते हैं
आदमियत के लहू को पीकर
अपनी अना⁵ को चमकाते हैं

तुम्हीं कहो शैतानी नस्लों
क्या यह जंगल राज नहीं है
जिसमें कूव्वत-ओ-ज़र⁶ ही खुदा है

.....
1. मजबूर और निर्धन, 2. पीड़ा, 3. अपमानित 4. अत्याचार,
5. अहम्, 6. शक्ति और धन।

हिंदुत्ववादियों का मनुस्मृति से 'मोह' छूट नहीं रहा है

भारत द्वारा संविधान अपनाए हुए सत्तर साल बीत चुके हैं। डॉ. आंबेडकर के मुताबिक इसने 'मनु के शासन की समाप्ति की थी।' लेकिन हिंदुत्ववादियों के बीच आज भी उसका सम्मोहन बरकरार है।

■ सुभाष गाताडे



मनु और उनका ग्रंथ मनुस्मृति 21 वीं सदी की दूसरी दहाई के अंत में भी सुर्खियों में आता रहता है।

हिंदुत्व वर्चस्ववादियों बीच आज भी उसके सम्मोहन को देखते हुए जबकि नवस्वाधीन भारत द्वारा संविधान अपनाए हुए सत्तर साल का वक्फा गुजरने को है, जिसने बकौल डॉ. आंबेडकर 'मनु के शासन की समाप्ति की थी।'

मनुस्मृति के महिमामंडन करने वालों की कतार में इन दिनों नया नाम शामिल हुआ है जनाब संभाजी भिड़े जो शिवप्रतिष्ठान संगठन के अगुआ हैं और अपने बयानों और कार्यवाइयों से आए दिन सुर्खियों में छाए रहते हैं।

मालूम हो कि जनवरी माह की शुरुआत में पुणे के पास भीमा कोरेगांव के पास दलितों पर जो संगठित हमले हुए थे, उसमें पीड़ितों द्वारा अभियुक्तों में इनका नाम भी शामिल किया गया है।

बहरहाल अपने अनुयायियों जिन्हें 'धारकरी' कहते हैं (यह लब्ज 'वारकरी' के बरअक्स वह इस्तेमाल करते हैं, जो हर साल पुणे से पंढरपुर पैदल यात्रा करते हैं) को संबोधित करते हुए उन्होंने उन्हें हिंदू धर्म के विचारों का प्रचार-प्रसार करने और हिंदू राष्ट्र बनाने का आह्वान किया। उन्होंने अनुयायियों को यह भी बताया कि किस तरह 'मनुस्मृति की शिक्षाएं संत ज्ञानेश्वर और संत तुकाराम जैसे की शिक्षाओं से बेहतर हैं।'

इस बात को मद्देनजर रखते हुए कि उन्होंने न केवल मनुस्मृति का गुणगान किया था बल्कि पश्चिमी भारत में बेहद लोकप्रिय एवं विद्रोही प्रवृत्ति के समझे जाने वाले दो संतों का अपमान किया था, तत्काल उन्हें 'गिरफ्तार करने' की मांग उठी और सरकार को भी यह कहना पड़ा कि वह इस मामले की तहकीकात करेगी।

जांच जो भी हो अंदाजा लगाया जा सकता है कि इस तहकीकात का क्या नतीजा निकलेगा? दरअसल 85 साल की उम्र के जनाब संभाजी भिड़े की अहमियत को इस आधार पर जाना जा सकता है कि उन्हें प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का 'गुरु' कहा जाता है और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस का 'संरक्षक' कहा जाता है।

मनु के महिमामंडन करने वालों में भिड़े अपवाद नहीं हैं। दरअसल मनुस्मृति के प्रति सम्मोहन 'परिवार' में चौतरफा मौजूद है।

अभी पिछले साल (2017) की ही बात है। जब संघ के अग्रणी विचारक इंद्रेश कुमार ने ऐतिहासिक महाड़ सत्याग्रह के 90वीं सालगिरह के महज 15 दिन पहले जयपुर में एक कार्यक्रम में शामिल होकर मनु और मनुस्मृति की प्रशंसा की थी।

सभी जानते हैं कि महाड़ सत्याग्रह (19-20 मार्च तथा 25 दिसंबर 1927 को दूसरा चरण) को नवोदित दलित आंदोलन में मील का

पत्थर समझा जाता है जब डॉ. आंबेडकर ने एक प्रतीकात्मक कार्यक्रम में हजारों लोगों की उपस्थिति में मनुस्मृति का दहन किया था और मनुस्मृति की मानवद्रोही अंतर्वस्तु के लिए (जो दलितों, शूद्रों एवं स्त्रियों को सभी मानव अधिकारों से वंचित करती है) उस पर जोरदार हमला बोला था।

अपने इस ऐतिहासिक आंदोलन की तुलना आंबेडकर ने 18वीं सदी की आखरी दहाईयों में सामने आयी फ्रांसिसी इंकलाब से की थी, जिसने समूची मानवता की मुक्ति के लिए स्वतंत्रता, समता और बंधुता का नारा दिया था।

अगर हम जयपुर में आयोजित उस आम सभा की ओर लौटें, जिसका आयोजन किन्हीं 'चाणक्य गण समिति' ने किया था और जिसका फोकस था 'आदि पुरुष मनु को पहचानें, मनुस्मृति को जानें' तथा कार्यक्रम के निमंत्रण पत्र में साफ लिखा था कि मनुस्मृति ने मुख्यतः 'जातिभेद का तथा जातिप्रथा का विरोध किया।'

अपने लंबे वक्तव्य में इंद्रेश कुमार ने श्रोतासमूह को बताया कि मनु न केवल जातिप्रथा के विरोधी थे बल्कि विषमता की भी मुखालिफत करते थे और अतीत के इतिहासकारों ने जनता के सामने 'दबाव के तहत' मनु की 'गलत छवि' पेश की है। उन्होंने मनु को सामाजिक सद्भाव और सामाजिक न्याय के क्षेत्र का दुनिया का पहला न्यायविद भी बताया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्ठ नेता द्वारा मनु की खुली प्रशंसा जिस शहर जयपुर में हो रही थी, वह भारत

का एकमात्र ऐसा शहर है जहां मनु की मूर्ति उच्च अदालत के प्रांगण में स्थापित की गई है और आंबेडकर की मूर्ति कहीं अदालत के कोने में स्थित है।

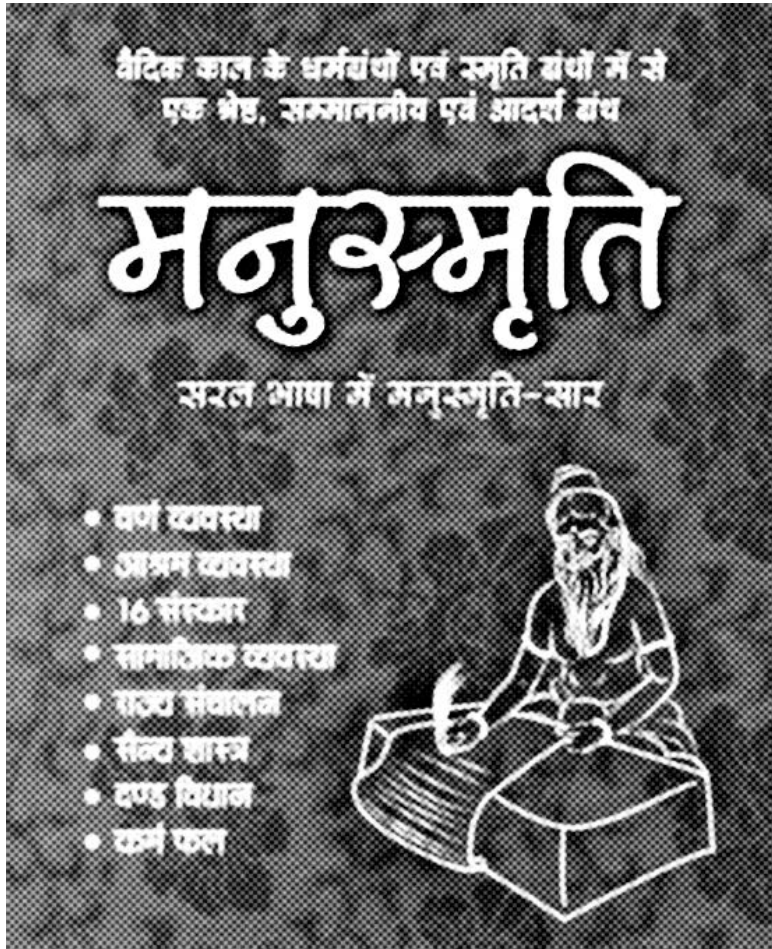
मालूम हो मनु की मूर्ति की स्थापना संघ के एक अन्य स्वयंसेवक तथा तत्कालीन मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत के कार्यकाल में हुई थी। संविधान के बुनियादी उसूलों से जिनके विचार कर्तई मेल नहीं खाते उस मनु की मूर्ति को अदालत से हटाने के लिए कई आंदोलन चले हैं, मगर आज भी वह मूर्ति 'मामला अदालत में विचाराधीन' है, कहते हुए वहीं विराजमान है।

निश्चित ही मनु को वैधता प्रदान करने, उन्हें महिमामंडित करने का सिलसिला महज मूर्तियों की स्थापना तक सीमित नहीं है, इसने कई रूप लिए हैं। यह बात बहुत कम लोगों को याद होगी कि मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री के पद पर जब उमा भारती विराजमान थीं, तब उनकी सरकार ने गोहत्याबंदी को लेकर एक अध्यादेश जारी किया था और इसके लिए जो आधिकारिक बयान जारी किया गया था उसमें मनुस्मृति की महिमा गायी गई थी। (जनवरी 2005) गाय के हत्यारे को मनुस्मृति नरभक्षी कहती है और उसके लिए सख्त सजा का प्रावधान करती है।

निश्चित तौर पर आजाद भारत के कानूनी इतिहास में यह पहला मौका था जब किसी कानून को इस आधार पर औचित्य प्रदान किया

जा रहा था कि वह मनुस्मृति के अनुकूल है।

विडंबना यही थी कि कानून रचने वालों को मनुस्मृति



के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का ऐलान करने में बिल्कुल संकोच नहीं हो रहा था जबकि वह अच्छी तरह जानते हैं कि मनु के विचार संविधान के बुनियादी सिद्धांतों के खिलाफ हैं।

व्यक्तिगत पसंदगी/नापसंदगी की बात अलग आखिर मनुस्मृति के प्रति समूचे हिंदुत्व ब्रिगेड में इस किस्म का सम्मोहन क्यों दिखता है? समझा जा सकता है कि मनुस्मृति का महिमामंडन जो 'परिवार' के दायरों में निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है उससे दोहरा मकसद पूरा होता है :

- वह मनुस्मृति को उन तमाम 'दोषारोपणों से मुक्त' कर देती है जिसके चलते वह रैडिकल दलितों से लेकर तर्कशीलों के निशाने पर हमेशा रहती आई है।
- दूसरे, इससे संघ परिवारी जमातों की एक दूसरी चालाकी भरे कदम के लिए जमीन तैयार होती है जिसके तहत वह दलितों के 'असली दुश्मनों को चिह्नित करते हैं' और इस कवायद में 'मुसलमानों' को निशाने पर लेते हैं। वह यही कहते फिरते हैं कि मुसलमान शासकों के आने के पहले जाति प्रथा का अस्तित्व नहीं था और उनका जिन्होंने जम कर विरोध किया, उनका इन शासकों द्वारा जबरदस्ती धर्मांतरण किया गया और जो लोग धर्मांतरण के लिए तैयार नहीं थे, उन्हें उन्होंने गंदे कामों में ढकेल दिया।

आज ऐसे आलेख, पुस्तिकाएं यहां तक किताबें भी मिलती हैं जो मनुस्मृति के महिमामंडन के काम में मुब्तिला दिखती हैं। प्रोफेसर केवी पालीवाल की एक किताब, 'मनुस्मृति और आंबेडकर' इसका एक दिलचस्प उदाहरण पेश करती है।

किन्हीं 'हिंदू राइटर्स फोरम' द्वारा प्रकाशित (मार्च 2007, नई दिल्ली) इस किताब के लेखक की हिंदुत्व वर्चस्ववादी फलसफे के साथ नजदीकी साफ दिखती है। प्रस्तुत फोरम द्वारा प्रकाशित किताबों में से 20 से अधिक किताबें इन्हीं प्रोफेसर साहब की लिखी हैं।

इतना ही नहीं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से प्रत्यक्ष/अपरोक्ष जुड़े समझे जाने वाले सुरुचि प्रकाशन (दिल्ली) से भी इनकी कई किताबें प्रकाशित हुई हैं। यहां 'मनुस्मृति और आंबेडकर' शीर्षक किताब की प्रस्तावना के एक हिस्से का उल्लेख किया जा सकता है जिसका शीर्षक है 'ये पुस्तक क्यों?' (पेज 3) जिसमें लिखा गया है :

यह पुस्तक उन लोगों के लिए लिखी गई है जिन्हें यह भ्रम है कि स्वायम्भुव मनु की मनुस्मृति हिंदू समाज में आज व्याप्त जात-पात,

उंच-नीच और छूआछूत का समर्थन करती है। इसका दूसरा उद्देश्य इस भ्रम को भी दूर करना है कि मनु, शूद्रों और स्त्रियों के विरोधी और ब्राह्मणवाद के समर्थक हैं। इसका तीसरा उद्देश्य आधुनिक युग के समाज सुधारक और दलित नेता डॉ भीमराव आंबेडकर द्वारा मनुस्मृति के संबंध में फैलाई गई भ्रांतियों को भी सप्रमाण दूर करना है।

प्रस्तावना में यह भी बताया गया है कि किस तरह डॉ. आंबेडकर ने 'मनुस्मृति के विषय में वेद विरोधी मैक्समुलर द्वारा संपादित और जार्ज बुहलर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित मनुस्मृति के आधार पर लिखा जिसके कारण उन्हें अनेक भ्रांतियां हुईं।' प्रस्तावना के मुताबिक मनुस्मृति के कुल 2,865 श्लोकों में से लगभग 56 फीसदी श्लोक मिलावटी हैं और किन्हीं डॉ. सुरेंद्र कुमार के हवाले से बताया गया है कि उन्होंने इन 'मिलावटों' को ध्यान में रखते हुए 1985 में एक 'विशुद्ध मनुस्मृति' तैयार की है। डॉ. केवी पालीवाल के मुताबिक,

'यदि यह विशुद्ध मनुस्मृति, डॉ आंबेडकर के लेखन से पहले, 1935 तक, अंग्रेजी में संपादित हो गई होती और वर्णों की भिन्नता को आंबेडकर स्वाभाविक मान लेते, तो मनुस्मृति विरोध न होता.' (देखें, पेज 5)

क्या यह कहना सही होगा कि आंबेडकर ने मनुस्मृति का गलत अर्थ लगाया था क्योंकि वह कथित तौर पर संस्कृत भाषा के विद्वान नहीं थे, जैसा कि डॉ. पालीवाल कहते हैं। निश्चित ही नहीं।

ऐसी बेबुनियाद बातें उस महान विद्वान तथा लेखक के बारे में कहना (जिसकी अपने निजी पुस्तकालय में हजारों किताबें थीं, जिन्होंने कानून के साथ-साथ अर्थशास्त्र की भी पढ़ाई की थी तथा जिन्होंने विभिन्न किस्म के विषयों पर ग्रंथनुमा लेखन किया) एक तरह से उनका अपमान करना है। अगर हम महज उनके द्वारा रची गई विपुल ग्रंथ संपदा को देखें तो पता चलता है कि वह सत्रह अलग-अलग खंडों में बंटी है, जिसका प्रकाशन सामाजिक न्याय और आधिकारिता मंत्रालय की तरफ से किया गया है।

मनुस्मृति के बारे में आंबेडकर की अपनी समझदारी उनकी अधूरी रचना 'रेवोल्यूशन एंड काउंटररेवोल्यूशन इन एन्शंट इंडिया' (प्राचीन भारत में क्रांति और प्रतिक्रांति) में मिलती है।

यहां इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि

6 • समरथ

जुलाई-सितम्बर 2018

बुनियादी तौर पर उन्होंने इस मसले पर सात अलग-अलग किताबों की रचना करना तय किया था, मगर उस काम को वह पूरा नहीं कर सके थे। यह ग्रंथमाला आंबेडकर के इस बुनियादी तर्क के इर्द-गिर्द संकेंद्रित होने वाली थी जिसके तहत उन्होंने बौद्ध धर्म के उभार को क्रांति माना था और उनका साफ मानना था कि ब्राह्मणों द्वारा संचालित प्रतिक्रांति के चलते अन्ततः बौद्ध धर्म की अवनति हुई।

आंबेडकर के मुताबिक मनुस्मृति एक तरह से 'हिंदू समाज जिस भारी सामाजिक उथल-पुथल से गुजरा है उसका रिकॉर्ड है।' वह उसे महज कानून की किताब के तौर पर नहीं देखते हैं बल्कि आंशिक तौर पर नीतिशास्त्र और आंशिक तौर पर धर्म के तौर पर भी देखते हैं।

अब प्रबुद्ध समुदाय के एक हिस्से की मनुस्मृति के बारे में राय बदल रही हो, मालूम नहीं, लेकिन आंबेडकर इसके लक्ष्यों के बारे में स्पष्ट हैं और इसी वजह से मनुस्मृति को वह 'प्रतिक्रांति का दस्तावेज' कहते हैं।

इस बात की अधिक चर्चा नहीं हुई है कि किस तरह आंबेडकर ने मनु जिसने नीत्से को प्रेरित किया, जिसने फिर हिटलर को प्रेरित किया, इनके बीच के विचारधारात्मक अपवित्र लिंक को उजागर किया था।

और यह बात भी आम है कि हिटलर और मुसोलिनी ने संघ और हिंदू महासभा के मनुवादियों को प्रेरित किया फिर चाहे वो सावरकर हों या मुंजें हो या हेडगेवार या गोलवलकर हों।

'कम्युनैलिजम काम्बेट' के मई 2000 के अंक में आंबेडकर के लेखन से चुनिंदा अंश निकाल कर उजागर किया गया है कि किस तरह नीत्से को हिंदू धर्म के दर्शन से प्रेरणा मिली थी।

'वह व्यक्तिगत न्याय या सामाजिक उपयोगिता पर आधारित नहीं है। हिंदू धर्म का दर्शन बिल्कुल अलग सिद्धांत पर टिका है। क्या सही है और क्या अच्छा है इस प्रश्न का जो उत्तर हिंदू धर्म का दर्शन देता है, वह काबिलेगौर है। वह मानता है कि किसी काम का सही होना और अच्छा होना उसके लिए जरूरी है कि वह सुपरमैन के तबके अर्थात् ब्राह्मणों के हितों की सेवा करे.'

मनुस्मृति को संदर्भित करते उन्होंने कहा था कि *'...किस तरह मनु का यह पाठ हिंदू धर्म के*

दर्शन की अंतर्वस्तु और उसके हृदय को उजागर करता है। हिंदू धर्म सुपरमैन का सुसमाचार/धर्मग्रंथ है और वह सिखाता है कि सुपरमैन के लिए जो सही है वही बात नैतिक तौर पर सही और नैतिक तौर पर अच्छी हो सकती है।

क्या इस दर्शन का कोई समानांतर मौजूद है? मुझे यह कहने में संकोच हो रहा है, मगर यह स्पष्ट है। हिंदू धर्म से समानांतर बातें नीत्से के दर्शन में मिलती हैं। मेरे इस कथन पर हिंदू जरूर नाराज होंगे।'

आंबेडकर के मुताबिक अपनी किताब 'एंटी क्राइस्ट' में नीत्से ने मनुस्मृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और यह भी कहा था कि वह तो महज मनु के रास्ते पर चल रहे हैं :

'जब मैं मनु की कानून की किताब पढ़ता हूँ जो अतुलनीय बौद्धिक और बेहतर रचना है, यह आत्मा के खिलाफ पाप होगा अगर उसका उल्लेख बाइबिल के साथ किया जाए। आप तुरंत अंदाजा लगाएंगे कि उसके पीछे एक सच्चा दर्शन है, हर तरफ शैतान को सूंघनेवाला यहूदी आचार्यों और अंधश्रद्धा का घालमेल नहीं है—वह किसी तुनकमिजाज मनोविज्ञानी को भी सोचने के लिए कुछ सामग्री अवश्य देता है।'

आंबेडकर ने इस बात पर जोर दिया था कि किस तरह नात्सी—

'अपनी वंश परम्परा नीत्से से ग्रहण करते हैं और उसे अपना आध्यात्मिक पिता मानते हैं। नीत्से की एक मूर्ति के साथ खुद हिटलर ने अपनी तस्वीर खिंचवायी थी; वह इस उस्ताद की पांडुलिपियां अपने खास संरक्षकत्व में रखता है; नीत्से के लेखन के चुने हुए उद्धरणों को (नई जर्मन आस्था के तौर पर) नात्सी समारोहों में उद्धृत किया जाता है।'

शायद मनु, नीत्से, हिटलर और हिंदुत्व वर्चस्ववादी फलसफे के बीच के रिश्तों को ढूंढना अब आसान हो जाए।

मनु ने नीत्से को प्रेरित किया, नीत्से ने हिटलर और मुसोलिनी को आगे प्रेरित किया, हिटलर और मुसोलिनी के विचारों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा को प्रेरित किया और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा ने मनुस्मृति के साथ अपने नाभिनालबद्ध रिश्ते को बरकरार रखा।

भीड़ के ढांचे का सच खुल चुका है

■ अनिल चमड़िया



भारतीय जनता पार्टी से जुड़ी जिस भीड़ ने लगभग अस्सी साल के आर्य समाजी स्वामी अग्निवेशजी पर झारखंड में हमला किया वह भीड़ द्वारा हमले की प्रवृत्ति के विस्तार होने का उदाहरण है। यानी उसका सच खुल चुका है। स्वामी अग्निवेश कोलकाता में प्रोफेसर रहे हैं और हरियाणा सरकार में मंत्री रह चुके हैं।

मुसलमानों, ईसाईयों, दलितों के खिलाफ हमले के वक्त जय श्री राम का नारा जिस तरह से भीड़ (एक समूह) लगाती है, वही नारा भगवाधारी अग्निवेश पर हमले के वक्त भी भीड़ लगा रही थी। इस हमले से पहले वाट्सऐप द्वारा कोई अफवाह नहीं फैली थी। ना ही गौ मांस का बहाना था।

यदि भीड़ द्वारा हमले और हत्याओं की घटनाओं की पड़ताल करें तो उन घटनाओं के लिए कोई न कोई कारण को सामने रख दिया जाता है लेकिन वह छद्म कारण होते हैं। वास्तविक कारण की तरफ न तो सत्ता पक्ष लोगों को ले

जाने देना चाहता है और ना ही विपक्ष ही उस तरफ जाना चाहता है।

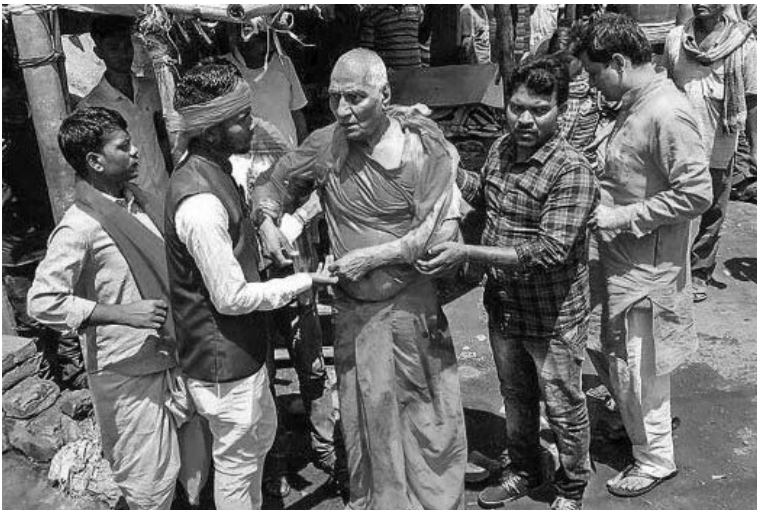
पहली बात तो भारतीय समाज में भीड़ बनाकर हमले की कोशिशों का ढांचा मौजूद रहा है। इसे समझने के लिए दर्जनों उदाहरण हमें देखने को मिल सकते हैं। नवंबर 2017 को जब मैं देवधर गया था, वहां एक पुरानी कोठी में एक सार्वजनिक कार्यक्रम था। कवि मित्र प्रभात सरसी ने उस कोठी की जो ऐतिहासिकता बताई, उसे फेसबुक पर भी लिखा।

1934 में देवघर के वैद्यनाथ मन्दिर (धाम) में हरिजन-प्रवेश के लिये महात्मा गांधी ट्रेन से जसीडीह स्टेशन पर शाम को उतरे थे। सनातनी सैकड़ों की संख्या में लाठियों में बोरे बांध कर जसीडीह स्टेशन पहुंच गये। बोरों को उन्होंने काले रंग से रंग दिया था। बहाना यह था कि वे काला झंडा दिखाएंगे।

इससे पहले गिद्धौर के महाराजा ने सनातनी पंडों की एक मीटिंग की सदरत करते हुए कहा था कि वे अपने सनातनी पंडों के साथ हैं और सनातनियों के निर्णय और आदेश को मानते हुए ये हाथ महात्मा गांधी के विरुद्ध किसी भी हद तक जा सकते हैं। उनके इस कथन ने आग में घी का काम किया था।

महात्मा गांधी की देवघर-यात्रा नहीं होने पाए राजेन्द्र प्रसाद ने इसके लिए स्थानीय कांग्रेसी नेता विनोदानन्द झा पर दवाब डाला था। पर वे हिम्मत नहीं जुटा पाये थे।

जसीडीह स्टेशन पर रोशनी के नाम पर केवल एक पेट्रोमेक्स की व्यवस्था थी। स्टेशन के बाहर आठ-दस हजार लोगों की भीड़ जमा हो गयी थी। बड़ी संख्या में संधाल नागरिक भी थे,



जो सुदूर गांवों से महात्मा गांधी को देखने आये हुए थे। स्टेशन से बाहर गांधी जी को देवघर ले जाने के लिये एक ऑस्टिन कार की व्यवस्था की गयी थी।

अंधेरे का लाभ उठाकर सनातनियों ने सुरक्षा-घेरे को तोड़ दिया। कार पर लाठियां बरसने लगीं। चारों तरफ के शीशे चकनाचूर हो गये थे। कार पर सवार सभी लोग कमोबेश घायल हो चुके थे। ठक्कर बापा के कान पर एक जोरदार लाठी का प्रहार हुआ था। वे हमेशा के लिये एक कान से बहरे हो गये थे।

अगर पांच-सात मिनट और देरी होती तो सनातनियों के हाथों महात्मा गांधी जसीडीह स्टेशन पर ही मार दिये जाते। कार ड्राइवर घायलों को किसी तरह देवघर के बम्पास टाउन की बिजली कोठी तक पहुंचने में सफल हो पाया। देवघर में मंदिर प्रवेश रोकने के लिए भीड़ बना कर हमले की कई घटनाएं हुई हैं।

यहां घटना का बहाना मंदिर प्रवेश को रोकना दिखता है। लेकिन इसकी इस तरह से व्याख्या की जा सकती है कि सामाजिक वर्चस्व की यथास्थिति बनाए रखने के लिए भीड़ बनाकर हमले होते रहे हैं। लेकिन समाज में ही इस तरह के हमलों के खिलाफ एक मजबूत ढांचा मौजूद रहा है, जो उस भीड़ को विस्तार की जगह पाने से रोकता रहा।

याद करें तो 1990 के साम्प्रदायिक उभार के दौर में भी वर्चस्ववादियों द्वारा भीड़ जमा करने और हमले करने की घटनाओं को महज इसीलिए रोका जा सका क्योंकि विपक्ष में उस वक्त इंडियन पीपुल्स फ्रंट जैसी कुछ ऐसी शक्तियां थी जो सड़कों पर उतर कर नारे लगा रही थी : जो दंगा करवाएगा, हमसे नहीं बच पाएगा।

एक बड़े परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए भीड़ द्वारा हमला और हत्या की वारदातों को इस रूप में देखा जाना चाहिए कि सामाजिक स्तर पर वर्चस्व रखने वाली शक्तियों और 1990 के बाद आर्थिक स्तर पर वर्चस्व रखने वाली शक्तियों ने कैसे भीड़ द्वारा हमले और हत्या के ढांचे को विस्तार दिया है।

इन वारदातों के चरित्र को केवल भाजपा और कांग्रेस के बीच फंसाकर रखने से वास्तविकता पर पर्दा पड़ा रह सकता है। याद करें कि राज्यों में भाजपा और केन्द्र में कांग्रेस के नेतृत्व वाली सरकारों की मिलीजुले प्रयासों से छत्तीसगढ़ जैसे राज्य में एक हथियारबंद भीड़ को लगातार विस्तार देने के प्रयास हुए। कभी जन जागरण, कभी सलवा-जुड़ूम के नाम से।

वास्तविक अर्थों में खदानों के ऊपर सदियों से बसे

आदिवासियों व उनके शुभचिंतक ईसाईयों को हमले और हत्या की शिकार बनाया जाता रहा। दरअसल यह देखने को मिला कि जिनके खिलाफ हमले और हत्या के लिए भीड़ जुटाई जाती रही है, उनका नाम भर बदल दिया गया ताकि उसमें संवैधानिक तंत्रों की भी भूमिका सुनिश्चित की जा सके।

छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में यह नाम माओवाद और हिंसा के रूप में बदलता दिखाई दिया। हर वह संगठन व व्यक्ति माओवादी करार दिया जाने लगा, जो आर्थिक लूट के खिलाफ खड़ा हुआ था। इस कड़ी में ब्रह्मदेव शर्मा जैसे आईएएस अधिकारी भी थे जिनका कसूर महज यह था कि वे सामाजिक और आर्थिक वर्चस्व की यथास्थिति के खिलाफ सरकार की योजनाओं को लागू करने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन उन्हें भीड़ द्वारा नंगा किया गया।

केन्द्र में नई आर्थिक नीतियों के पक्षधर मनमोहन सिंह और राज्यों में आर्थिक नीतियों की कट्टर समर्थक भाजपा की सरकारों ने भारतीय समाज में उस ढांचे को राष्ट्र व विकास के नाम तहस नहस कर दिया जो कि भीड़ बना कर हत्या और हमले के ढांचे की जगह बनने से रोकते रहे हैं।

हिन्दूत्व, गौ मांस, अफवाह, राष्ट्र विरोधी आदि जिन कारणों को ऐसी वारदातों के समय विमर्श के लिए पेश किया जाता है, उस पूरे विमर्श के दौरान भीड़ द्वारा हमले की वारदातों के क्रमिक विस्तार पर नजरों को फेर लिया जाता है।

हमला और हत्या करने के लिए भीड़ जमा करने के ये हथियार जरूर हैं लेकिन वारदात के कारण ये नहीं हैं। भीड़ को संचालित करने वाले वर्चस्व के पक्षधर हैं और अपनी रणनीतियों से उन्होंने हमले के लिए भीड़ के लिए एक माहौल रच दिया है।

सामाजिक और आर्थिक वर्चस्व के गठजोड़ ने पूरे सुरक्षा तंत्र को अपने दिशा निर्देशों और अपने सुरक्षा में लगे रहने के लिए विवश कर दिया है। संवैधानिक तंत्र के खिलाफ जो निराशाजनक भाव विकसित होता है, उसकी वजह है कि विपक्ष भी भीड़ द्वारा हमले के ढांचे को संपूर्णता में तहस-नहस करने के लिए सड़कों पर नहीं उतरता है। वह उसे वोट की लड़ाई तक सीमित रखना चाहता है।

भाजपा के ऐसे वारदातों में शामिल होने या खामोशी ओढ़ने के हालात पर इसीलिए कोई फर्क भी नहीं पड़ता है। लेकिन इतिहास का एक सच है कि भीड़ तो भीड़ होती है और उसके लिए सब बराबर है।

साभार : <http://raviwar.com/>

जब विवेकानंद ने गोरक्षक से पूछे कई मुश्किल सवाल

■ नासिरुद्दीन

बात फरवरी 1897 की है। कोलकता का बाग बाजार इलाका। स्वामी विवेकानंद रामकृष्ण परमहंस के एक भक्त प्रियनाथ के घर पर बैठे थे। रामकृष्ण के कई भक्त उनसे मिलने वहाँ पहुँचे थे। तरह-तरह के मुद्दों पर चर्चा हो रही थी। तभी वहाँ गोरक्षा के एक प्रचारक आ पहुँचे और स्वामी विवेकानंद उनसे बात करने गए, स्वामी विवेकानंद और गोरक्षा के प्रचारक संन्यासी के बीच एक दिलचस्प संवाद हुआ जिसे शरतचंद्र चक्रवर्ती ने बांग्ला भाषा में कलमबंद किया था। यह संवाद स्वामी विवेकानंद के विचारों के आधिकारिक संकलन का हिस्सा भी बना।

स्वामी विवेकानंद ने गोरक्षा के काम में जुटे इस प्रचारक से क्या कहा होगा? थोड़ी कल्पना कीजिए।

अमरीका के शिकागो में 1893 में विश्व धर्म संसद में हिन्दू धर्म की पताका लहराकर लौटे थे विवेकानंद, गेरुआ वस्त्र पहनने वाले संन्यासी ने गोरक्षक से जो कुछ कहा उसकी कल्पना करना आपके लिए आसान नहीं होगा।

विवेकानंद-गोरक्षक संवाद

गोरक्षक ने भी साधु-संन्यासियों जैसे कपड़े पहने थे। सर पर गेरुए रंग की पगड़ी थी। वह बंगाल से बाहर हिन्दी पट्टी के लग रहे थे। विवेकानंद अंदर के कमरे से गोरक्षक स्वामीजी से मिलने आए। अभिवादन के बाद गोरक्षा के प्रचारक ने गौ माता की एक तस्वीर उन्हें दी।

इसके बाद वे गोरक्षा के प्रचारक से बातचीत करने लगे। बेहतर तो यही है, इन दोनों की बातचीत वैसे ही पढ़ी जाए जैसा कंप्यूटि वार्क्स ऑफ़ विवेकानंद

में दर्ज है।

विवेकानंद : आप लोगों की सभा का उद्देश्य क्या है?

प्रचारक : हम देश की गोमाताओं को कसाइयों के हाथों से बचाते हैं। स्थान-स्थान पर गोशालाएँ स्थापित की गई हैं। यहाँ बीमार, कमजोर और कसाइयों से मोल ली हुई गोमाताओं को पाला जाता है।

विवेकानंद : यह तो बहुत ही शानदार बात है। सभा की आमदनी का ज़रिया क्या है?

प्रचारक : आप जैसे महापुरुषों की कृपा से जो कुछ मिलता है, उसी से सभा का काम चलता है।

विवेकानंद : आपकी जमा पूँजी कितनी है?

प्रचारक : मारवाड़ी वैश्य समाज इस काम में विशेष सहायता देता है। उन्होंने इस सत्कार्य के लिए बहुत सा धन दिया है।

विवेकानंद : मध्य भारत में इस समय भयानक अकाल पड़ा है। भारत सरकार ने बताया है कि नौ लाख लोग अन्न न मिलने की वजह से भूखों मर गए हैं। क्या आपकी सभा अकाल के इस दौर में कोई सहायता देने का काम कर रही है?

प्रचारक : हम अकाल आदि में कुछ सहायता नहीं करते। यह सभा तो सिर्फ़ गोमाताओं की रक्षा करने के उद्देश्य से ही स्थापित हुई है।

विवेकानंद : आपकी नज़रों के सामने देखते-देखते इस अकाल में लाखों-लाख मानुष मौत के मुँह में समा गए। पास में बहुत सारा पैसा होते हुए भी क्या आप लोगों ने एक मुट्ठी अन्न देकर इस भयानक अकाल में उनकी सहायता करना अपना कर्तव्य नहीं समझा?

प्रचारक : नहीं। यह लोगों के कर्मों का फल है। पाप की वजह से ही अकाल पड़ा है। जैसा 'कर्म होगा है, वैसा ही फल मिलता है।'

गोरक्षक की यह बात सुनकर स्वामी विवेकानंद की बड़ी-बड़ी आँखों में मानो जैसे ज्वाला भड़क उठी। मुँह गुस्से से लाल हो गया। मगर उन्होंने अपनी भावनाओं को किसी तरह दबाया।

स्वामी विवेकानंद ने कहा, 'जो सभा-समिति इंसानों से सहानुभूति नहीं रखती है, अपने भाइयों को भूखे मरते देखते हुए भी उनके प्राणों की रक्षा करने के लिए एक मुट्ठी अनाज तक नहीं देती है लेकिन पशु-पक्षियों के वास्ते बड़े पैमाने पर अन्न वितरण करती है, उस सभा-समिति के साथ मैं रती भर भी सहानुभूति नहीं रखता हूँ। इन जैसों से समाज का कोई विशेष उपकार होगा, इसका मुझे विश्वास नहीं है।'

फिर विवेकानंद कर्म फल के तर्क पर आते हैं। वे कहते हैं, 'अपनों कर्मों के फल की वजह से मनुष्य मर रहे हैं—इस तरह कर्म की दुहाई देने से जगत में किसी काम के लिए कोशिश करना तो बिल्कुल बेकार साबित हो जाएगा। पशु-पक्षियों के लिए आपका काम भी तो इसके अंतर्गत आएगा। इस काम के बारे में भी तो बोला जा सकता है—गोमाताएँ अपने-अपने कर्मफल की वजह से ही कसाइयों के हाथ में पहुँच जाती हैं और मारी जाती हैं इसलिए उनकी रक्षा के लिए कोशिश करना भी बेकार है।'

फिर विवेकानंद ने किया व्यंग्य

विवेकानंद के मुँह से यह बात सुनकर गोरक्षक झेंप गए। उन्होंने कहा, 'हाँ, आप जो कह रहे हैं, वह सच है लेकिन शास्त्र कहता है—गाय हमारी माता है।'

अब विवेकानंद को हँसी आ गई। उन्होंने हँसते हुए कहा, 'जी हाँ, गाय हमारी माता हैं, यह मैं बहुत अच्छी तरह से समझता हूँ। अगर ऐसा न होता तो ऐसी विलक्षण संतान को और कौन जन्म दे सकता है!'

गोरक्षक ने इस मुद्दे पर और कुछ नहीं कहा। वह शायद विवेकानंद का व्यंग्य भी नहीं समझ पाए। फिर गोरक्षक ने विवेकानंद से कहा, 'इस समिति की तरफ आपके पास कुछ भिक्षा पाने के लिए आया हूँ।'

विवेकानंद : मैं तो ठहरा संन्यासी फ़कीर। मेरे पास रुपैया पैसा कहाँ कि मैं आपकी सहायता करूँगा? लेकिन यह भी कहे देता हूँ कि अगर मेरे पास कभी पैसा हुआ तो सबसे पहले उसे इंसान की सेवा के लिए खर्च करूँगा। सबसे पहले इंसान को बचाना होगा—अन्नदान, विद्यादान, धर्मदान करना पड़ेगा। ये सब करने के बाद अगर पैसा बचा तब ही आपकी समिति को कुछ दे पाऊँगा।

विवेकानंद का यह जवाब सुनकर गोरक्षक चले गए।

इंसानियत, बड़ा धर्म

वहाँ मौजूद रामकृष्ण परमहंस के शिष्य शरतचंद्र के शब्दों में, इसके बाद विवेकानंद हम लोगों से कहने लगे, 'क्या बात कही? क्या कहा—अपने कर्म फल की वजह से इंसान मर रहा है, इसलिए उनके साथ दया दिखा कर क्या होगा? हमारे देश के पतन का यही जीता-जागता प्रमाण है? तुम्हारे हिंदू धर्म का कर्मवाद कहाँ जाकर पहुँचा है! मनुष्य होकर जिनका मनुष्य के लिए दिल नहीं दुखता है, तो क्या वे मनुष्य हैं?' यह बोलते-बोलते स्वामी विवेकानंद का पूरा शरीर क्षोभ और दुःख से तिलमिला उठा।

यह पूरी बातचीत 121 साल पहले की है। लेकिन क्या इस बातचीत का हमारे वक्त में कोई मतलब है?

इस संवाद से यही लगता है कि स्वामी विवेकानंद के लिए इंसान और इंसानियत की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। मगर स्वामी विवेकानंद का नाम लेते वक्त हममें से कौन, उनके इस रूप को याद रखता है?

थोड़ी कल्पना और कीजिए

दिमाग का इस्तेमाल, दिमाग को तेज़ करता है, ऐसा गुणीजन बताते हैं। तो चलते-चलते एक और कल्पना करते हैं। अगर आज गेरुआ वस्त्रधारी भगवा पगड़ी वाले स्वामी विवेकानंद हमारे बीच होते तो इन घटनाओं पर क्या कहते—

- झारखंड की संतोषी, मीना मुसहर, सावित्री देवी, राजेन्द्र बिरहोर और दिल्ली की तीन बहनों शिखा, मानसी, पारुल जैसों की भूख से मौत।
- अखलाक, अलीमुद्दीन, पहलू खान, क़ासिम, रकबर खान जैसों की गोतस्करी के आरोप में हत्या।
- गुजरात, आंध्र प्रदेश जैसी जगहों पर गोरक्षकों के नाम पर दलितों की पिटाई।
- और इन हत्या, पिटाई या दूसरी हिंसा को इधर-उधर से जायज ठहराने की कोशिश।
- गोशालाओं में गायों की मौत।
- फसल की बर्बादी झेल रहे कर्ज में डूबे हजारों किसानों की मौत।

हम ऊपर के उनके संवाद से आसानी से अंदाजा लगा सकते हैं कि वे क्या कहते हैं ना?

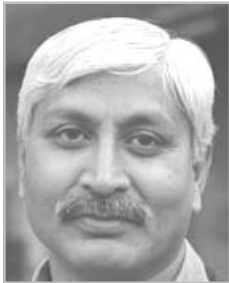
वैसे, क्या यह सवाल करना बेमानी होगा कि अगर आज स्वामी विवेकानंद होते और किसी गोरक्षक से ऐसे ही संवाद करते तो उनके साथ क्या होता?

साभार : <https://www.bbc.com/hindi/india>

प्रेमचंद को क्यों पढ़ें?

जन्मतिथि विशेष : प्रेमचंद की प्रासंगिकता का सवाल बेमानी जान पड़ता है, लेकिन हर दौर में उठता रहा है। अक्सर कहा जाता है कि अब भी भारत में किसान मर रहे हैं, शोषण है, इसलिए प्रेमचंद प्रासंगिक हैं। प्रेमचंद शायद ऐसी प्रासंगिकता अपनी मृत्यु के 80 साल बाद न चाहते।

■ अपूर्वानंद



प्रेमचंद को क्यों पढ़ें? यह सवाल प्रेमचंद के रहते और उनके गुजर जाने के बाद हमेशा ही अलग-अलग वजह से उठया जाता रहा है। एक समझ यह रही है कि प्रेमचंद को उनकी सामाजिकता की वजह से पढ़ा जाना चाहिए।

अक्सर यह कहते लोग मिल जाते हैं कि प्रेमचंद इसलिए प्रासंगिक बने हुए हैं कि भारत के किसान आज भी आत्महत्या कर रहे हैं। कुछ लोग उन्हें भारतीय गांवों को समझने के लिए पढ़ना जरूरी बताते हैं।

अच्छी संख्या यह मानने वालों की है कि प्रेमचंद का ऐतिहासिक महत्व तो है और रहेगा लेकिन साहित्यिक दृष्टि से वे पुराने पड़ गए हैं, कि उपन्यासकार के रूप में उन्हें दोयम दर्जे का ही माना जा सकता है। अधिक से अधिक उनकी कहानियां पढ़ी जाती रहेंगी लेकिन उपन्यास!

यह कहने वाले भी हैं कि प्रेमचंद एकांगी हैं। निर्मल वर्मा ने तो उन पर भारतीय उपन्यास न लिखने का आरोप लगाया और यह भी कहा कि उनमें जीवन अधूरा है। उनमें विषाद ही विषाद है!

इन सबके बावजूद मृत्यु के अस्सी साल बाद और जन्म के 138 साल बीत जाने पर भी जो एक कथाकार पाठकों में सबसे लोकप्रिय है, तो वह प्रेमचंद हैं!

उनके अलावा शायद किसी लेखक को यह सौभाग्य प्राप्त हो कि उसकी किताबों के पन्नों पर हल्दी लगी उंगलियों की छाप भी हो और कथे का दाग भी। आंसू तो न जाने कितनी आंखों के उन सफहों पर गिरकर सूख गए होंगे।

मात्र साक्षर से लेकर दुनिया भर के कथा संसार में भ्रमण करने वाले भी लौट-लौट कर प्रेमचंद की ओर आते हैं। कक्षाओं में निरपवाद रूप से साल दर साल अगर किसी एक लेखक को पढ़ने वालों की तादाद सबसे अधिक होती है तो वह प्रेमचंद हैं!

यह ठीक है कि बचपन से ही स्कूल की लगभग हर कक्षा में उनका कुछ न कुछ पढ़ते हुए बड़े होने वाले लोगों का प्रेमचंद से अपरिचित होना मुमकिन नहीं लेकिन मैंने हर साल युवाओं को आत्मीयता के साथ प्रेमचंद के बारे में बात करते सुना है।

हमेशा लेखक को ही

**आज के वक्त प्रेमचंद की अमीना
ज़रूर अपने इकलौते पोते हामिद
को अकेले ईदगाह न जाने देती!
प्रेमचंद की कहानी ईदगाह एक
अजीब तरीके से आज के हिंदुस्तान
पर एक दुख भरी टिप्पणी में
तब्दील हो जाती है। उसी तरह
पंच परमेश्वर आज की सरकारों
पर लानत भेजती है!**

खुद को साबित नहीं करना होता है खुद को पाठकों के योग्य। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो समाज को चुनौती देते रहते हैं कि वह उनकी बनाई कसौटी पर खुद को साबित करे!

पंच परमेश्वर का एक वाक्य लगातार गूँजता रहता है। बुद्धिजीवियों के लिए, संस्थाओं के लिए, मीडिया के लिए, 'बिगाड़ के डर से क्या ईमान की बात न करोगे?'

प्रेमचंद की प्रासंगिकता क्यों है? यह सवाल बेमानी जान पड़ता है, लेकिन हर दौर में उठता रहा है। इसका उत्तर प्रेमचंद के किंचित समकालीन और उनके परवर्ती लेखकों ने देने की कोशिश की है, अपने-अपने ढंग से।

प्रेमचंद की परंपरा से नितान्त अलग माने जाने वाले अज्ञेय ने भी इस पर विचार किया है। वे व्यंग्यपूर्वक उनकी चर्चा करते हैं, जो मानते हैं कि हिंदी उपन्यास प्रेमचंद से बहुत आगे निकल आया है।

'जहां तक मानवीय सहानुभूति का- लेखक-मानव की विश्व मानव के साथ एकात्मता का- प्रश्न है। प्रेमचंद इस बात में आगे थे।' प्रेमचंद के बाद के लेखकों से उनकी तुलना करते हुए और किसी का नहीं यह अज्ञेय का मानना है। और भी, 'प्रेमचंद को मानवता से प्रेम था, हम अधिक से अधिक मानवता की प्रगति चाहते हैं।'

प्रेमचंद के जन्म के 138वें साल में अगर हम सोचें कि क्या हमारी संवेदना का क्षेत्र बढ़ा है तो फिर अज्ञेय का ही वाक्य याद आता है, 'उनकी दृष्टि अधिक उदार थी, इतर मानवों के साथ उनकी संवेदना का सूत्र अधिक सजीव और स्पंदनशील था।'

आज जब हमने संवेदना के भी दायरे तय कर दिए हैं और उनमें प्रवेश करने वाले दूसरों को शक की नज़र से देखा जाता है तब प्रेमचंद के संवेदनात्मक साहस को देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

प्रेमचंद ने हिंदी को और उर्दू के भी कथा भाषा का निर्माण किया और बताया कि कथाकार के लिए असल चीज़ है इंसानी जिंदगी के ड्रामे में दिलचस्पी लेना। वह संघर्ष की ज़मीन पर पांव टिकाता है लेकिन होठों पर मुस्कराहट के साथ।

'गम की कहानी मजे लेकर कहना', प्रेमचंद का वाक्य है। अकसर कहा जाता है कि अभी भी भारत में किसान मर रहे हैं, शोषण है, इसलिए प्रेमचंद प्रासंगिक हैं। प्रेमचंद शायद ऐसी प्रासंगिकता अपनी मृत्यु के 80 साल बाद न चाहते।

उनमें पाठकों की रुचि के बने रहने का असल कारण है उनका किस्सा कहने का अंदाज़, उनका अलग-अलग तरह के चरित्रों पर गौर करना। अमृतलाल नागर ने जब कहा कि प्रेमचंद को पढ़कर मनोरंजन होता है तो प्रेमचंद के प्रशंसक उन पर टूट पड़े।

बेचारे नागरजी प्रेमचंद का लिखा खोजते रहे कि उनके ख्याल की ताईद उन्हीं का लेखक कर सके! फिर उन्हें वह मिल ही गया!

प्रेमचंद खुद लिखते हैं, 'उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्तव्य पाठकों का गम गलत करना है, उनका मनोरंजन करना है' अमृतलाल नागर भी यही कहते हैं कि प्रेमचंद के पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोकप्रिय बने रहने का कारण है, उनमें मनोरंजन का गुण।

उसके साथ ही उपन्यासकार का काम मनोभाव चित्र का है, '(उपन्यासकार) ऐसी ही घटनाओं की आयोजना करता है जिसमें उसके पात्रों को अपने मनोभावों को प्रकट करने का अवसर मिले।' यह लोहे के चने चबाने जैसा है। आखिर आप दूसरों के भीतर कैसे डूब सकते हैं? इसके लिए 'उपन्यासकार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है।'

नागरजी लिखते हैं कि जीवन के संघर्ष में भटकते हुए प्रेमचंद झींकते न रहे, 'उनके सामने तो हर रोज़ एक नई कहानी थी... तो उन्होंने घाट-घाट का पानी पिया है और यह घाट-घाट का पानी उनकी कहानी के भीतर है।'

प्रेमचंद की चिंता को अज्ञेय की तरह ही समझा मार्क्सवादी भीष्म साहनी ने। उनका कहना है कि प्रेमचंद का सारा लेखन वस्तुतः नैतिक प्रश्नों की पड़ताल है :

'इंसान और इंसानी रिश्तों को लेकर यदि कोई लेखक उपन्यास लिखने बैठेगा तो नैतिकता के प्रश्न को गौण मनाकर ताक पर नहीं रख सकता... यदि हम न्यायसंगत समाज व्यवस्था चाहते हैं, तो यह नैतिकता का सवाल बन जाता है।'

आज समाज के हर तबके के अपने लेखक हैं। मानो लेखक न हुआ समूह विशेष का प्रवक्ता हुआ! लेकिन लेखक, वह भी कथाकार तो वही है जो अपनी निगाह का प्रसार निरंतर विस्तृत करता रहे और हरेक जन के मन में गहरे और गहरे उतरने का कौशल और साहस भी हो उसमें!

असल चुनौती है अपने घेरे से निकलना, दूसरों से आशंकित होकर नहीं, उत्सुक होकर मिलने की तत्परता। यह मानना जो अज्ञेय ने लिखा कि जन्म के कारण जाति, धर्म, वर्ग विशेष से रिश्ते को, जो नितान्त संयोग है व्यक्ति की पहचान की शुरुआत और अंत नहीं माना जा सकता।

बल्कि उनका अतिक्रमण करने की क्षमता ही हमें मानवीय बनाती है। प्रेमचंद के साहित्य में इस इंसानियत का भरोसा है।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।)

कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए सांप्रदायिकता जोर बांध रही है

■ मुंशी प्रेमचंद



हिंदी के महान लेखक मुंशी प्रेमचंद अपनी कहानियों और उपन्यासों के लिए जाने गए, लेकिन राजनीतिक-सामाजिक विषयों पर उनके लेख आज भी प्रासंगिक कहे जा सकते हैं। 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' शीर्षक से यह आलेख प्रेमचंद ने जनवरी 1934 में लिखा था।

साम्प्रदायिकता और संस्कृति

साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलने में शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भांति, जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल में जानवरों पर रौब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है।

हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गये हैं कि अब न कहीं हिन्दू संस्कृति है, न मुस्लिम संस्कृति और न कोई अन्य संस्कृति। अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति, मगर आज भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं।

हालांकि संस्कृति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है। हिन्दू मूर्तिपूजक हैं, तो क्या मुसलमान कब्रपूजक और स्थान पूजक नहीं हैं। ताजिये को शर्बत और शीरीनी कौन चढ़ाता है, मस्जिद को खुदा का घर कौन समझता है।

अगर मुसलमानों में एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो बड़े से बड़े पैगम्बरों के सामने सिर

झुकाना भी कुफ्र समझता है, तो हिन्दुओं में भी एक ऐसा है, जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्मग्रन्थों को गपोड़े समझता है। यहां तो हमें दोनों संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं दिखता।

तो क्या भाषा और पहनावे का अंतर है?

तो क्या भाषा का अन्तर है? बिल्कुल नहीं। मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्ली भाषा कह लें, मगर मद्रासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है जैसे मद्रासी हिन्दू के लिए संस्कृत। हिन्दू या मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं सर्वसाधारण की भाषा बोलते हैं, चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी, बंगला हो या मराठी।

बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है, जिस तरह बंगाली हिन्दू। दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। सीमा प्रान्त का हिन्दू उसी तरह पशतो बोलता है, जैसे वहां का मुसलमान।

फिर क्या पहनावे में अन्तर है? सीमा प्रान्त के हिन्दू और मुसलमान स्त्रियों की तरह कुर्ता और ओढ़नी पहनते-ओढ़ते हैं। हिन्दू पुरुष भी मुसलमानों की तरह कुलाह और पगड़ी बांधता है।

अक्सर दोनों ही दाढ़ी भी रखते हैं। बंगाल में जाइये, वहां हिन्दू और मुसलमान स्त्रियां दोनों ही साड़ी पहनती हैं, हिन्दू और मुसलमान पुरुष दोनों कुर्ता और धोती पहनते हैं। तहमद की प्रथा बहुत हाल में चली है, जब से साम्प्रदायिकता ने जोर पकड़ा है।

वह कौन सी संस्कृति है?

खान-पान को लीजिए। अगर मुसलमान मांस खाते हैं तो हिन्दू भी अस्सी फ़ीसदी मांस खाते हैं। ऊंचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, ऊंचे दरजे के मुसलमान भी। नीचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, नीचे दरजे के मुसलमान भी।

मध्यवर्ग के हिन्दू या तो बहुत कम शराब पीते हैं, या भंग के गोले चढ़ाते हैं, जिसका नेता हमारा पण्डा-पुजारी क्लास है। मध्यवर्ग के मुसलमान भी बहुत कम शराब पीते हैं। हां, कुछ लोग अफ़ीम की पीनक अवश्य लेते हैं, मगर इस पीनकबाज़ी में हिन्दू भाई मुसलमानों से पीछे नहीं हैं।

हां, मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं और उनका मांस खाते हैं, लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियां मौजूद हैं, जो गाय का मांस खाती हैं, यहां तक कि मृतक मांस भी नहीं छोड़तीं, हालांकि बधिक और मृतक मांस में विशेष अन्तर नहीं है। संसार में हिन्दू ही एक जाति है, जो गो-मांस को अखाद्य या अपवित्र समझती है। तो क्या इसलिए हिन्दुओं को समस्त विश्व से धर्म-संग्राम छेड़ देना चाहिए?

संगीत और चित्रकला भी संस्कृति का एक अंग है, लेकिन यहां भी हम कोई सांस्कृतिक भेद नहीं पाते। वही राग-रागनियां दोनों गाते हैं। फिर हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना जोर बांध रही है?

वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड। शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मन्त्र है और कुछ नहीं।



जब बंगाल में ऐसी धोतियां फैशन में थीं जिनके किनारों पर 'खुदीराम बोस' लिखा रहता था

■ कृष्ण प्रताप सिंह

शहादत दिवस पर विशेष : कभी बिहार के उसी मुजफ्फरपुर ज़िले को यह गौरव हासिल हुआ था कि वहां की जेल में सबसे कम उम्र के क्रांतिकारी खुदीराम बोस शहीद हुए थे, जो इन दिनों एक सरकारी बालिका आश्रय गृह में हुई हैवानियत के कारण लगातार चर्चा में है।

भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में क्रांतिकारी आंदोलन के अप्रतिम योगदान के बावजूद हमारी आज की नई पीढ़ी का बड़ा हिस्सा उससे अपरिचित-सा हो चला है तो इसका एक बड़ा कारण इस बाबत उसे बताने के उपक्रमों का अभाव भी है।

इस अभाव का कुफल यह हुआ है कि सामान्य युवा इतना भले ही जानते हैं कि इस आंदोलन ने देश को सरदार भगत सिंह जैसा शहीद-ए-आजम दिया, उसके पहले और सबसे कम उम्र के शहीद के बारे में कुछ नहीं जानते।

यह भी नहीं कि तीन सितंबर, 1889 को अविभाजित बंगाल के मिदनापुर जिले के एक अनाम से गांव में पैदा हुए खुदीराम बोस ने 11 अगस्त, 1908 को बिहार के उसी मुजफ्फरपुर जिले की जेल में पहला और सबसे कम उम्र का क्रांतिकारी शहीद होने का गौरव हासिल किया था, जो इन दिनों एक सरकारी बालिका आश्रय गृह में हुई हैवानियत के कारण लगातार चर्चा में है।

प्रसंगवश, खुदीराम बोस की यह शहादत लंबे वक्त तक क्रांतिकारी युवकों की प्रेरणा बनी रही थी। बंगाल के बुनकर उन दिनों ऐसी खास धोतियां बुना करते थे, जिनके किनारों पर 'खुदीराम बोस' लिखा रहता था। युवक ऐसी खुदीराम बोस लिखी धोतियां पहनकर खुद को इस कदर गौरवान्वित अनुभव करते

थे कि इन धोतियों का फैशन चल निकला था।

खुदीराम बोस के जीवन की यादों पर पड़ी विस्मृति की धूल झाड़ें तो पता चलता है कि अभी उनका बचपन भी नहीं गुजरा था कि उन्होंने एक-एक करके अपनी माता लक्ष्मीप्रिया और पिता त्रैलोक्यनाथ दोनों को खो दिया।

बड़ी बहन ने उन्हें 'अनाथ' होने से बचाकर अपनी देख-रेख में जैसे-तैसे उनकी स्कूली शिक्षा शुरू ही कराई थी कि वे क्रांतिकारियों के संपर्क में आ गए और उनकी सभाओं व जुलूसों में शामिल होने लगे।

1905 में लार्ड कर्जन ने अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत एक अलग मुस्लिम बहुल प्रांत बनाने के उद्देश्य से बंग-भंग यानी बंगाल का विभाजन कर डाला तो उद्देलित खुदीराम बोस क्रांतिकारी सत्येन्द्रनाथ बोस का नेतृत्व स्वीकार कर सक्रिय स्वतंत्रता संघर्ष में कूद पड़े। उस वक्त उनकी उम्र महज 15 साल थी। इस कारण नाना अभावों के चलते पहले से ही घिसट-घिसट कर चल रही उनकी पढ़ाई अधूरी रह गई।

सत्येन्द्रनाथ बोस को 'सत्येन बोस' नाम से भी जाना जाता है। उस समय, 'युगांतरकारी दल' के बैनर तले संचालित हो रही उनकी क्रांतिकारी कार्रवाइयों से तो अंग्रेजों की नाक में दम था ही, उनका लिखा ज्वलंत पत्रक 'सोनार बांगला' उन्हें फूटी आंखों भी

नहीं सुहाता था। सो, उन्होंने उस पत्रक पर प्रतिबंध लगा रखा था, जबकि दल द्वारा 'वंदेमातरम' के परचे के साथ यह पत्रक बांटने की जिम्मेदारी भी खुदीराम को सौंपी गई थी।

1906 में मिदनापुर में लगी औद्योगिक व कृषि प्रदर्शनी में प्रतिबंध की अवज्ञा करके खुदीराम उसे बांट रहे थे, तो एक सिपाही ने उन्हें पकड़ने की कोशिश की। उन्होंने आव देखा न ताव, उसके मुंह पर एक जोरदार घूसा मारा और 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' का नारा लगाते हुए बाकी बचे पत्रकों के साथ भाग निकले।

अगली 28 फरवरी को पकड़े गये तो भी पुलिस को चकमा देकर भागने में सफल रहे। दो महीनों बाद अप्रैल में फिर पकड़ में आए तो उन पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया, लेकिन एक तो उनकी उम्र कम थी और दूसरे उनके खिलाफ एक भी गवाह नहीं मिला, इसलिए 16 मई को महज चेतावनी देकर छोड़ दिए गए।

6 दिसंबर, 1907 को उन्होंने दल के ऑपरेशनों के तहत नारायणगढ़ रेलवे स्टेशन के पास बंगाल के गवर्नर की विशेष ट्रेन और 1908 में अंग्रेज अधिकारियों वाट्सन और पैम्फायल्ट फुलर पर बम फेंके। लेकिन अपने जीवन के सबसे महत्वपूर्ण क्रांतिकारी ऑपरेशन को उन्होंने 30 अप्रैल, 1908 को अंजाम दिया।

यह ऑपरेशन बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के सत्र न्यायाधीश किंग्सफोर्ड की हत्या से संबंधित था। दरअसल, बंग भंग के वक्त किंग्सफोर्ड कलकत्ता में मजिस्ट्रेट था और उसने वहां आंदोलन करते हुए पकड़े गए क्रांतिकारियों को जान-बूझकर एक से बढ़कर एक क्रूरतम सजाएं दी थीं। इससे खुश ब्रिटिश सत्ता ने उसे पदोन्नत करके मुजफ्फरपुर का सत्र न्यायाधीश बना दिया था।

युगान्तरकारी दल के क्रांतिकारी उसके प्रति बदले की भावना से भरे हुए थे। सो, दल ने गुप्त रूप से उसकी हत्या का संकल्प लिया और इसका जिम्मा खुदीराम बोस व प्रफुल्ल कुमार चाकी को सौंपा। ये दोनों हत्या के लिए तय तिथि 30 अप्रैल से दस बारह दिनों पहले ही मुजफ्फरपुर जा पहुंचे और रेलवे स्टेशन के बगल स्थित एक धर्मशाला में ठहरकर अपना लक्ष्य पाने की योजनाएं बनाने लगे।

दल ने ऑपरेशन के लिए दोनों को एक-एक पिस्तौल व बम दे रखे थे। लेकिन अभी वे किंग्सफोर्ड की अदालत में जाकर उसे, उसकी लाल बग्घी व उसके घोड़ों का रंग पहचानने में ही लगे थे कि गुप्तचरों से उनके दल के निश्चय का पता लगा लिया।

फलस्वरूप, किंग्सफोर्ड की सुरक्षा खासी कड़ी कर दी गई। उसकी कोठी से थोड़ी दूरी पर एक क्लब था, जहां किंग्सफोर्ड व अन्य अंग्रेज अधिकारी आया-जाया करते थे। अंततः खुदीराम और प्रफुल्ल कुमार ने तय किया कि किंग्सफोर्ड देर शाम अपनी बग्घी पर चढ़कर क्लब से कोठी की ओर जाने लगेगा तो वे बम फेंककर

उसका काम तमाम कर देंगे।

घने अंधेरे में वे पास के वृक्षों की आड़ में जा छिपे थे और उसकी वापसी की बाट जोह रहे थे। जैसे ही लाल रंग की एक बग्घी क्लब से बाहर निकलकर किंग्सफोर्ड की कोठी के रास्ते पर आयी, उनकी शिकार बन गई। बग्घी में बैठी एक संभ्रांत अंग्रेज महिला व उनकी बेटी का तत्काल ही प्राणांत हो गया। लेकिन अफसोस, किंग्सफोर्ड उस बग्घी में था ही नहीं। किसी कारण वह क्लब में ही रुका रह गया था।

हमले के बाद खुदीराम व चाकी दोनों नंगे पैर ही वहां से भागे और 24-25 मील दूर वैनी रेलवे स्टेशन पर पहुंचकर ही दम लिया। लेकिन किंग्सफोर्ड की सुरक्षा में तैनात जिन सिपाहियों ने उन्हें दिन में देखकर वहां से चले जाने को कहा था और जिन्हें बहानों में उलझाकर वे वहां बने रहे थे, उनके एफआईआर दर्ज कराने के फौरन बाद वारंट जारी हुआ और व्यापक पुलिस छापों के बीच अगले ही दिन खुदीराम पकड़ लिए गए। उनके पास से दो पिस्तौल और तीस कारतूस मिले।

जिला मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये जाने पर उन्होंने वीरतापूर्वक बम फेंकना स्वीकार कर लिया। अंततः उन्हें फांसी की सजा सुनाई गयी और 11 अगस्त, 1908 को मुजफ्फरपुर जेल में शहीद कर दिया गया।

उन्हें लटकाने का आदेश देने वाले मजिस्ट्रेट ने बाद में कहा था, 'खुदीराम शेर के बच्चे की तरह निर्भीक होकर फांसी के तख्ते की ओर बढ़ा।' उस वक्त उनकी उम्र महज 17 वर्ष थी। उनके शोक में कई दिनों तक स्कूल कॉलेज बंद रहे थे।

प्रफुल्ल कुमार चाकी को भी पुलिस नन्दलाल बनर्जी नाम के अपने एक 'कर्तव्यनिष्ठ' सिपाही की बदौलत एक मई, 1908 को ही ट्रेन से समस्तीपुर से कलकत्ता जाते हुए गिरफ्तार करने में सफल हो गई थी, लेकिन उनके अंजाम के बारे में दो तरह की बातें कही जाती हैं। पहली यह कि पुलिस ने उसी रोज उन्हें निर्ममता से गोलियों से भून डाला था और दूसरी यह कि उन्होंने खुद अपनी ही पिस्तौल से अपना प्राणोत्सर्ग कर डाला था।

हां, जिस किंग्सफोर्ड को वे मारने में सफल नहीं हो पाये थे, उसके मन-मस्तिष्क पर उस हमले का ऐसा खौफनाक असर हुआ कि उसने डर के मारे अपनी नौकरी ही छोड़ दी। जैसा कि बता आये हैं, खुदीराम बोस की शहादत लंबे समय तक क्रांतिकारी युवकों की प्रेरणा बनी रही।

साभार - <http://thewirehindi.com>
(लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं और फैजाबाद में रहते हैं।)

जब एक महिला ने प्रधानमंत्री नेहरू का गिरेबान पकड़ लिया था

■ इकबाल अहमद

किसी राजनेता को अगर कोई काला झंडा दिखाए या विरोध प्रदर्शन करे तो ज्यादातर मामलों में ये होता है कि नेता उनसे बात करते हैं और उनकी समस्या को सुनने और सुलझाने की कोशिश करते हैं।

अगर सुरक्षा या दूसरे कारणों से राजनेता उसी वक्त विरोध प्रदर्शन कर रहे लोगों से मिल नहीं पाते हैं तो अमूमन पुलिस ये करती है कि विरोध प्रदर्शन कर रहे लोगों को वीआईपी के रास्ते से हटा देती है और मामला वहीं पर खत्म हो जाता है। लेकिन भारतीय राजनीति में हालात अब कुछ बदले-बदले से दिखने लगे हैं।

भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमित शाह 27 जुलाई को इलाहाबाद के दौरे पर थे। इस दौरान इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने अमित शाह के क्राफिले को रोककर उन्हें काला झंडा दिखाया था।

इनमें नेहा यादव, रमा यादव नाम की दो छात्राएं थीं जबकि एक छात्र किशन मौर्य शामिल थे। इन तीनों छात्रों का संबंध समाजवादी पार्टी के छात्र विंग समाजवादी छात्र सभा से है।

छात्राओं को पुरुष पुलिस वालों ने दबोचा था और बाल पकड़कर उन्हें घसीटने के बाद सरेआम लाठी भी मारी थी। तीनों के खिलाफ आईपीसी की धारा 147, 188, 341 और 505 के तहत केस दर्ज किया गया था। केस दर्ज होने के बाद उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया, जहां मजिस्ट्रेट ने उनकी जमानत अर्जी खारिज कर दी थी और ज्यूडिशियल कस्टडी में चौदह दिनों के लिए जेल भेज दिया था।

बाद में इलाहाबाद की सेशन कोर्ट से उन तीनों को जमानत मिली।



बेल पर रिहा होने के बाद नेहा यादव ने एक बातचीत में कहा, “विश्वविद्यालय में शोध छात्रों को एक साल तक छात्रावास नहीं मिलती है। मैं खुद उसके लिए संघर्ष कर रही हूँ। तमाम समस्याएं हैं जिन्हें लेकर हम लोग महीनों से कुलपति से मिलकर बताना चाह रहे थे, लेकिन कुलपति किसी भी छात्र को समय ही नहीं देते हैं।”

“हमने दूसरे अधिकारियों से भी शिकायत की लेकिन कहीं हमारी बात नहीं सुनी गई। अमित शाह बीजेपी के राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं, इलाहाबाद आ रहे थे, हमें लगा कि हम उन तक अपनी बात पहुंचाएंगे लेकिन जब उनसे हमारी मुलाकात संभव नहीं हो सकी तो हमने काले झंडे दिखाते हुए ‘वापस जाओ’ के नारे लगाए। लेकिन सिर्फ इतनी गलती के लिए हमें बुरी तरह से पीटा गया, अपमानित किया गया और गाड़ी में भरकर थाने लाया गया।”

नेहा यादव कहती हैं, “उनकी सुरक्षा में लगे जवानों ने हमें बाल पकड़ कर घसीटा और डंडे बरसाए। रास्ते भर हमें गालियां दी गईं। कोई महिला पुलिस नहीं थी वहां। जेल में भी हमारे साथ इस

तरह से व्यवहार हो रहा था जैसे हम कोई अपराधी हों। वहां मौजूद सुरक्षाकर्मी तो ये भी कह रहे थे कि दोबारा ऐसी हरकत की तो तुरंत एनकाउंटर भी हो जाएगा। लेकिन इन सबके बावजूद अमित शाह ने ये जानने की कोशिश नहीं की कि इन लड़कियों के गुस्से या नाराज़गी की वजह क्या है, इनकी शिकायत क्या है। जेल से आने के बाद अपनी समस्याओं को लेकर हमने कुलपति से फिर मिलने का समय मांगा, लेकिन हमें नहीं मिला है।”

इस मामले में इलाहाबाद पुलिस का कहना है कि सब कुछ कानून के दायरे में रह कर किया गया है। इलाहाबाद के एसएसपी नितिन तिवारी ने एक बातचीत में कहा, “कानूनी तरीके से कार्रवाई की गई है। दो लोगों पर पहले से भी कई मामले दर्ज हैं। हमने सीओ से जांच करने को कहा है कि सुरक्षा में चूक कैसे हुई और इनका मकसद क्या था।”

मामला ये नहीं है कि छात्रों की सारी बातें सही है या पुलिस जो कह रही है वो सही है। मामला बहुत सीधा सा है कि इस तरह के विरोध पर राजनेता क्या करते रहे हैं।

बीजेपी की राजनीति का एक बहुत अहम हिस्सा है भारत के पहले प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू की आलोचना। लेकिन जान लेते हैं कि इस तरह के विरोध प्रदर्शन में नेहरू का क्या रुख होता था।

आलोचना पसंद करते थे नेहरू

बात 1937 की है। स्वतंत्रता आंदोलन जोरों पर था। नेहरू तीसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गए थे और देश में उनकी लोकप्रियता लगातार बढ़ती जा रही थी।

इसी बीच, कोलकाता से छपने वाले मासिक पत्रिका ‘मॉडर्न रिव्यू’ में एक लेख छपा, जिसका शीर्षक था ‘राष्ट्रपति’ और लेखक नाम चाणक्य था।

लेख में कहा जाता है कि “नेहरू को लोग जिस तरह से हाथों हाथ ले रहे हैं और उनकी लोकप्रियता दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है, आशंका इस बात की है कि कहीं वो तानाशाह न बन जाएं। इसलिए नेहरू को रोका जाना बहुत ज़रूरी है।”

लेख में अंत में कहा जाता है, “वी वान्ट नो सीज़र्स।” बाद में पता चलता है कि चाणक्य कोई और नहीं बल्कि खुद नेहरू ने चाणक्य के फर्जी नाम से उस लेख को लिखा था। नेहरू को लगने लगा था कि भारत की जनता उन्हें जिस तरह से देखने लगी है उसमें इस बात का खतरा है कि वो एक तानाशाह बन जाएं।

नेहरू के लिए राजनीति और निजी संबंध के मायने

इससे आगे बढ़ते हैं। भारत को आजादी मिल चुकी है और

नेहरू प्रधानमंत्री बन चुके थे। ये बात है 1949 की। नेहरू ने दिल्ली जेल में बंद डॉक्टर राममनोहर लोहिया के लिए आम की एक टोकरी भिजवाई थी।

उस समय भारत के गृहमंत्री रहे सरदार पटेल को ये बात पसंद नहीं आई। लेकिन नेहरू ने ये कहते हुए बात खत्म कर दी कि राजनीति और निजी संबंधों को अलग-अलग नज़रिए से देखा जाना चाहिए।

मामला ये था कि नेपाल में राणाओं ने सत्ता पर कब्जा कर लिया था। इसके विरोध में डॉक्टर राममनोहर लोहिया ने अपने समाजवादी साथियों के साथ दिल्ली स्थित नेपाली दूतावास के पास प्रदर्शन किया था। दिल्ली पुलिस ने उन लोगों को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया था। गिरफ्तार नेताओं में जस्टिस राजेंद्र सच्चर (1923-2018) भी थे।

जस्टिस सच्चर ने ही आम भिजवाने वाली बात लिखी है। उनके अनुसार आम भिजवाने का फैसला तो नेहरू ने किया था लेकिन उसे लोहिया तक पहुंचाने की जिम्मेदारी इंदिरा गांधी की थी।

लोहिया और नेहरू कांग्रेस में एक साथ काम कर चुके थे। लोहिया नेहरू को अपना हीरो मानते थे लेकिन आजादी के बाद नेहरू और लोहिया के रास्ते अलग हो गए थे। ये वही लोहिया थे जिन्होंने नेहरू की मौत के बाद उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए कहा था, “1947 के पहले के नेहरू को मेरा सलाम।”

बावजूद इसके दोनों के निजी संबंध कभी खराब नहीं हुए।

लोहिया के विरोध का तरीका और नेहरू की प्रतिक्रिया

1963 में उत्तर प्रदेश की फ़रुखाबाद लोकसभा सीट पर हुए उपचुनाव को जीतकर लोहिया पहली बार लोकसभा पहुंचे थे। संसद में लोहिया नेहरू को ‘सिन्ड्रो-सेक्स्युलर’, और न जाने कैसे-कैसे अपशब्द कहते थे, लेकिन नेहरू ने कभी इसको निजी तौर पर नहीं लिया।

बस्तर में गैंगरेप की घटना हो गई थी। संसद में इस पर बहस हो रही थी और नेहरू संसद छोड़कर चले गए थे।

दूसरे दिन संसद परिसर में ही लोहिया ने इंदिरा गांधी को चिकोटी काट ली। नेहरू ने जब लोहिया से नाराज़गी जताई तो लोहिया ने पलटकर जवाब दिया, “आपकी बेटी को दर्द हुआ तो फ़ौरन बोल पड़े, कल जब बस्तर की बेटियों के साथ हुए बलात्कार पर बात हो रही थी तो आप संसद छोड़कर क्यों चले गए थे।” नेहरू ने इस पर कुछ नहीं कहा।

पाकिस्तान ने अक्साई चीन के हिस्से को चीन के हवाले कर दिया था। इस पर भारत में बहुत नाराज़गी थी क्योंकि भारत

इसे अपना हिस्सा मानता है। संसद में इस पर बहस के दौरान नेहरू ने कहा कि “अक्सई चीन एक बंजर इलाका है, वहां कुछ नहीं उगता।” लोहिया ने फौरन खड़े होकर कहा, “आप भी तो गंजे हैं, आपके सर पर बाल नहीं उगता, तो क्या इसे काट दिया जाए।” नेहरू ने इसका कोई बुरा नहीं माना।

जब महिला ने नेहरू का गिरेबां पकड़ा

लेकिन इससे भी मजेदार किस्सा ये है जब एक महिला नेहरू के सामने आ गई और उनका गिरेबां पकड़ लिया। दरअसल लोहिया के कहने पर एक महिला संसद परिसर में आ गई और नेहरू जैसे ही गाड़ी से उतरे, महिला ने नेहरू का गिरेबां पकड़ लिया और कहा कि “भारत आजाद हो गया, तुम देश के प्रधानमंत्री बन गए, मुझ बुढ़िया को क्या मिला।” इस पर नेहरू का जवाब था, “आपको ये मिला है कि आप देश के प्रधानमंत्री का गिरेबां पकड़ कर खड़ी हैं।”

नेहरू की जिंदगी से जुड़े ऐसे कई किस्से हैं जो लोकतंत्र में उनके विश्वास को उजागर करते हैं।

ये बात है 1955 की। बिहार में छात्रों पर पुलिस ने फायरिंग की थी। बाद में जब नेहरू पटना पहुंचे तो उस समय 20 साल के एक नौजवान सैय्यद शहाबुद्दीन ने 20 हजार छात्रों के साथ पटना हवाई अड्डे पर नेहरू के खिलाफ प्रदर्शन किया और उन्हें काले झंडे दिखाए।

केवल दो साल के बाद उसी नौजवान ने सिविल सेवा की परीक्षा में सफलता हासिल की। लेकिन खुफिया विभाग ने उसी विरोध प्रदर्शन का हवाला देते हुए उन्हें वामपंथी करार दिया और उनकी नियुक्ति पर रोक लगा दी।

बाद में जब फाइल नेहरू तक पहुंची तो नेहरू ने खुद अपने हाथों से फाइल पर लिखा कि “उस विरोध प्रदर्शन का राजनीति से कोई संबंध नहीं है और ये नौजवानी के उल्लास (एक्सप्रेसन ऑफ यूथफुल एक्जुबिरेंस) में किया गया काम था।” विदेश मंत्री रह चुके नटवर सिंह ने खुद शहाबुद्दीन को ये बात बताई और नेहरू की फाइल नोटिंग की एक कॉपी भी शहाबुद्दीन को दी थी।

शहाबुद्दीन विदेश सेवा के लिए चुन लिए गए और जब अटल बिहारी वाजपेयी जनता पार्टी की सरकार में विदेश मंत्री थे, उसी समय शहाबुद्दीन ने नौकरी से इस्तीफा देकर राजनीति में आने का फैसला किया। 80 के दशक में बाबरी मस्जिद और शाहबानो मामले को राजनीतिक मुद्दा बनाकर शहाबुद्दीन एक बड़े नेता बनकर उभरे थे।

वो एक बार राज्यसभा और दो बार लोकसभा के लिए चुने गए। नेहरू ने अगर शहाबुद्दीन को क्लीन चिट नहीं दी होती तो

उनका क्या होता ये कहना मुश्किल है।

नेहरू को अपनी गलती का एहसास

अलग देश की मांग नागालैंड में आजादी के समय से ही उठ रही है। नेहरू की जीवनी लिखने वाले शंकर घोष कहते हैं कि नागा नेता फीजो से मुलाकात के दौरान नेहरू ने साफ कह दिया था कि भारत से अलग होने की बात तो भूल जाइए लेकिन नागालैंड को संविधान के दायरे में रहते हुए बहुत हद तक स्वायत्ता दी जा सकती है।

अप्रैल 1953 में नेहरू ने बर्मा के तत्कालीन प्रधानमंत्री यू नू के साथ नागालैंड का दौरा किया। नागा नेताओं के साथ बैठक चल रही थी तभी कुछ नागा नेता अचानक उठकर चले गए। ये नेहरू के लिए काफी अपमानजनक था क्योंकि दो-दो प्रधानमंत्री की मौजूदगी में नागा नेताओं ने ऐसा किया था। लेकिन नेहरू ने इसका बुरा नहीं माना और उन नेताओं के खिलाफ किसी तरह की कोई कार्रवाई नहीं हुई।

एक बार नेहरू ने सुप्रीम कोर्ट के एक जज की सार्वजनिक रूप से आलोचना कर दी थी। उन्हें फौरन ही अपनी गलती का एहसास हुआ। उन्होंने दूसरे ही दिन उन जज साहब से माफी मांगी और भारत के मुख्य न्यायाधीश को खत लिखकर अपने कहे गए शब्दों पर खेद जताया।

नेहरू ने मीडिया पर भी कभी किसी तरह का दबाव बनाने की कोशिश नहीं की।

बॉम्बे के जाने माने पत्रकार डीएफ कराका (1911-1974) नेहरू के सबसे बड़े आलोचकों में से एक थे। उनकी किताब “नेहरू : द लोटस ईटर फ्रॉम कश्मीर” (1953) नेहरू की कई मामलों में कड़ी आलोचना करती है। यहां तक की कई जगह पर तो नेहरू के बारे में कई अपशब्द कहे गए हैं, लेकिन नेहरू ने कभी उस किताब पर पाबंदी लगाने के बारे में नहीं सोचा।

दुर्गा दास हिंदुस्तान टाइम्स अखबार में लगातार नेहरू के खिलाफ लिख रहे थे। नेहरू ने एक बार अखबार के मालिक जीडी बिड़ला से अपनी नाराजगी का इजहार किया। बिड़ला ने साफ कह दिया कि वो अखबार के संपादकीय मामले में कोई दखल नहीं देते हैं। नेहरू ये जवाब सुनकर खामोश हो गए और फिर कभी इसका जिक्र नहीं किया।

अमरीकी पत्रकार नॉरमन कजिन्स ने एक बार नेहरू से पूछा था कि वो अपनी कौन सी विरासत छोड़ कर जाना चाहेंगे। इस पर नेहरू का जवाब था, “40 करोड़ भारतीय जो खुद से शासन करना जानते हैं।”

साभार : <https://www.bbc.com/hindi/india>

उत्तराखंड का लोकपर्व हरेला

■ चंचल गढ़िया



उत्तराखंड में कुछ एक महीनों को छोड़कर हर महीने कोई न कोई स्थानीय पारंपरिक त्योहार आता ही है। इनमें से एक त्योहार है 'हरेला' जो हिन्दी महीनों के श्रावण माह के पहले गते यानी पहले दिन मनाया जाता है। बरसात में जब चारों ओर हरियाली छा जाती है तब इस त्योहार को मनाया जाता है। इस त्योहार को 'हरेला' नाम संभवतः इस लिए दिया गया होगा कि इस दौरान पहाड़ों में बरसात शुरू हो जाती है और प्रकृति में चारों तरफ हरियाली छा जाती है। दूसरी वजह यह हो सकती है कि इसमें त्योहार से कुछ दिनों पहले कुछ अनाज बोए जाते हैं और उनके पौधों को, जिन्हे 'हरेला' नाम से भी जाना जाता है, आशीष के रूप में सिर पर रखा जाता है। बाकी त्योहारों की भांति इस त्योहार में भी स्थानीय पारंपरिक पकवान तो बनाए ही जाते हैं साथ ही फलदार वृक्षों का रोपण भी किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि इस दिन कुछ खास पेड़ों जैसे नाशपाती, अनार, पुलम और आलूबुखारा इत्यादि की टहनियां तोड़कर रोपी जाएं तो वे आसानी से जड़ पकड़ लेती हैं और समय बीतते सम्पूर्ण फलदार वृक्ष बन जाते हैं।

ऐसा ही एक जंगली पेड़ है जिसे मेहल कहा जाता है जिसका वानस्पतिक नाम पारस पाशिया है, उसकी टहनियां काट कर उस पर नाशपाती की कलम चढ़ाई जाती है और कुछ समय बाद वह पेड़ नाशपाती का विशालकाय पेड़ बन जाता है। रीति-रिवाजों और संस्कृति से जुड़ा उत्तराखंड का यह त्योहार प्राचीन काल से ही पर्यावरण संरक्षण की परंपरा भी निभाता आ रहा है। कुछ लोग इस पर्व को धरती और आकाश

के विवाह का प्रतीक भी मानते हैं।

इस त्योहार का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस दिन हरेला चढ़ाया जाता है। इस पर्व के लिए त्योहार से आठ-दस दिन पहले सात अनाजों—गेहूं, मूंग, जौ, उड़द, मक्का, गहत, सरसों इत्यादि को बोया जाता है और उसमें नियमित रूप से पानी डाला जाता है। त्योहार तक ये बीज अंकुरित होकर छोटे-छोटे पौधों का रूप धारण कर लेते हैं और त्योहार के दिन इन्हें निकाल कर सिर पर या कानों में आशीस के रूप में चढ़ाया जाता है और साथ ही यह गीत गाया जाता है—

जी रया जागि रया,
आकाश जस उच्च
धरती जस चाकव है जाया,
स्यावक जैसि बुद्धि
सूरज जस तराण है जौ,
सिल पिसी भात खाया
जांठ टेकि भैर जाया,
दूब जस फैलि जाया

इस गीत का अर्थ है—'जीते रहो-जागृत रहो। आकाश जैसी आपकी ऊंचाई हो-धरती जैसा विस्तार हो, सियार की जैसी बुद्धि, सूर्य जैसी शक्ति प्राप्त करो। आयु इतनी दीर्घ हो कि चावल भी सिल में पीस कर खाओ। अन्दर-बाहर जाने के लिए लाठी का सहारा लो और दूब की तरह फैलो।'

लोहार और हल जोतने का काम करने वाले लोग प्रातःकाल ही अपने मालिकों के घरों के दरवाजों पर मेहल और पाती (एक प्रकार का पौधा जिसे पवित्र माना जाता है और पूजा-पाठ के दौरान इस्तेमाल किया जाता है) की छोटी

टहनियां लगाकर जाते हैं और इसके बदले में मालिकों द्वारा अनाज, पकवान व रुपया-पैसा इत्यादि दिया जाता है जो दोनों के बीच आपसी रिश्ते को दर्शाता है।

नव विवाहित लड़कियां त्योहार के अवसर पर अपने मायके आती हैं और परिजनों को हरेला चढ़ाती हैं। इससे एक तरफ उन्हें अपने परिवार व गांव वालों से मिलने का मौका मिलता है और साथ ही अपनी सहेलियां, जो ससुराल से आर्यीं हैं उनके साथ भी गुफ्तगू करने का मौका भी मिलता है। पूड़ी, सब्जी, खीर के अलावा कुछ खास तरह के स्थानीय पकवान जैसे पुआ (एक प्रकार का मालपुआ), दाल के पकौड़े इत्यादि पकाए जाते हैं और आस-पड़ोस में मिल बांट कर एक-दूसरे के साथ साझा किया जाता है। जो नवविवाहित लड़कियां किसी कारणवश इस मौके पर मायके नहीं आ पातीं, परिजन पकवान व अन्य चीजें लेकर त्योहार पहुंचाने उनके ससुराल जाते हैं।

बदलते समय के साथ-साथ अन्य त्योहारों की भांति यह त्योहार भी अपना मूल रूप व प्रचलन खोता जा रहा है।

आए दिन खबरें आती रहती हैं कि उत्तराखंड राज्य में गांव के गांव खाली होते जा रहे हैं। अपने बच्चों के बेहतर भविष्य व अन्य सुख-सुविधाओं की लालसा में लोग बड़ी संख्या में शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। गिने-चुने लोग व परिवार ही गांवों में बचे हैं और त्योहारों व अन्य परंपराओं को जीवित रखने की जिम्मेदारी भी उन्हीं के कंधों पर है। सिर्फ शहरों में रहने वाले उत्तराखंड के लोग ही नहीं बल्कि गांवों में रहने वाली युवा पीढ़ी भी अब इन त्योहारों को इनके वास्तविक रूप में न मना कर सोशल मीडिया के माध्यम से मनाने में ज्यादा रुचि लेती दिखाई पड़ रही है। इन सब हालातों को मद्देनजर रखते हुए यह कहना मुश्किल है कि ये त्योहार कब तक जिंदा रह पाएंगे। आने वाली पीढ़ियां इनसे रू-ब-रू हो भी पाएंगी या नहीं। ऐसे में हम सभी का उत्तरदायित्व बनता है कि अपने-अपने स्तर पर इन लोक पर्वों को संरक्षित, संवर्द्धित करें और लोकप्रिय बनाएं, इनके मूल स्वरूप को जिंदा रखें क्योंकि ये लोक पर्व भी हमारी पहचान व संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं।



क्या हमारे किसानों को ग्लायफोसेट के असर का अंदाजा है

■ रवीश कुमार



ग्लायफोसेट (GLYPHOSATE), इसके बारे में जान लीजिए। दुनिया के हर मुल्क की तरह भारत में भी इसका इस्तेमाल खूब हो रहा है। यह एक प्रकार का रसायन है जिसका इस्तेमाल खर-पतवार नाशक के तौर पर होता है। इसे बनाने वाली कंपनी का नाम है मोंसांटो। अमरीका में इस कंपनी के खिलाफ 4000 से अधिक मामले दर्ज हो चुके हैं। कई तरह की जांच से साबित हो गया है कि यह कैंसर फैलाता है मगर किसान इसके इस्तेमाल के लोभ से नहीं बच पाते हैं।

डाउन टू अर्थ पत्रिका इस पर लगातार लिखती रहती है। 16-31 जुलाई वाले अंक के लिए वर्षा वाष्पीय ने कवर स्टोरी लिखी है। मैं इसी रिपोर्ट के आधार पर हिन्दी में आपके लिए लिख रहा हूँ। हिन्दी के पाठकों का दुर्भाग्य है कि उनकी मेहनत की कमाई का हजार रुपये लेकर चैनल और अखबार ऐसी जानकारी नहीं देते हैं। आप कब हिन्दी के अखबारों को आलोचनात्मक नज़र से देखेंगे पता नहीं। डाउन टू अर्थ हिन्दी में भी आता है, जहां इन सब बातों पर विस्तार से रिपोर्ट छपती है। कई बार लगता है कि हिन्दी का पाठक खुद को मूर्ख और अनजान बनाए रखने के लिए

हिन्दी के अखबारों को सब्सिडी देता है।

भारत के किसान भी कपास और सोयाबीन की खेती में इसका खूब इस्तेमाल करते हैं। यवतमाल के किसान कहते हैं कि इसके बिना खेती नहीं कर सकते हैं। हाथ से खर-पतवार निकालने के बजाए इस रसायन का इस्तेमाल करना पसंद करते हैं। वर्ना खेती की लागत तीन गुनी हो जाएगी। खेती के अलावा रेल ट्रैक, पार्क, जलाशयों में खर-पतवार को साफ करने में यह इस्तेमाल होता है। फसलों की कटाई से पहले भी इसका छिड़काव किया जाता है।

1974 से मोंसांटो बना रही है जिसे इस साल जून में जर्मन कंपनी बेयर ने खरीद लिया है। दुनिया भर में इसका इस्तेमाल बढ़ता ही जा रहा है। शुरूआत हुई थी चाय के बागानों में छिड़काव से। मगर किसान अवैध रूप से इसका इस्तेमाल दूसरी फसलों में भी करने लगे हैं। किसान फसलों को प्लास्टिक की चादरों से ढंक देते हैं और उसकी जड़ों के आस-पास छिड़काव करने लगते हैं ताकि खर-पतवार साफ हो जाए। किसान दूरगामी परिणामों की सोचेगा तो तुरंत फायदा नहीं होगा। इसलिए वह इसके इस्तेमाल के लिए बाध्य हो जाता है।



भारत में इस पर नज़र रखने के लिए Directorate of Plant Protection, Quarantine and Storage नाम की संस्था है जिसके अनुसार भारत में भी इसका इस्तेमाल काफी बढ़ चुका है। भारत में इस रसायन को लेकर दर्जनों दवाइयां बिक रही हैं। इनमें सबसे लोकप्रिय राउंडअप है। यह सब डाउन टू अर्थ की रिपोर्ट से ही लिख रहा हूँ।

ऐसा नहीं है कि किसानों को इसके खतरे का पता नहीं है। पिछले साल यवतमाल में छिड़काव के दौरान संपर्क में आने से 23 किसान मारे गए थे। यवतमाल के अस्तपाल के डाक्टर ने भी कहा है कि इस केमिकल के असर में आए कई मरीज आते रहते हैं। ग्लायफोसेट के कारण किडनी और लीवर भी नष्ट हो जाता है। न्यूरो की बीमारियां होने लगती हैं। कैंसर तो होता ही है। और भी कई बीमारियों का जिक्र है जिसके लिए आपको यह रिपोर्ट पूरी पढ़नी चाहिए। मैं शब्दशः अनुवाद नहीं कर रहा हूँ।

फ्रांस के मोलिक्यूलर बायोलॉजिस्ट Gilles-Eric Seralini ने गहन अध्ययन किया है, उनके अनुसार इस रसायन को तुरंत ही बैन कर देना चाहिए। मगर कंपनी अपनी तरफ से रिसर्च में फ्रॉड कर इन बातों को दबा देती है। कंपनी ने अरबों डॉलर खर्च कर वैज्ञानिकों और सरकारों के मुंह बंद किए हैं। भारत में इसके असर पर कम अध्ययन हुआ है। मगर गांव गांव में कैंसर फैल रहा है यह बात किसान भी जानते हैं। उनके बीच से भी किडनी फेल होने की बीमारी बढ़ रही है।

2014 में श्रीलंका ने इसे बैन कर दिया। वहां किडनी नष्ट होने के बहुत सारे मामले सामने आने लगे थे। धान के किसान इसकी चपेट में आए। इसके इस्तेमाल से पानी जहरीला हो गया। जून 2018 में बैन हटा लिया गया क्योंकि चाय बागानों के मालिक दबाव डालने लगे और बताने लगे कि अरबों डॉलर का नुकसान हो रहा है। थाईलैंड में भी रबर, ताड़ के तेल और फलों में इस्तेमाल होता है। वहां के किसान भी सरकार पर दबाव डालते हैं कि इसके इस्तेमाल पर अंकुश न लगाया जाए। यूरोपीयन यूनियन ने भी इसी दबाव के कारण इस रसायन के लाइसेंस को पांच साल के लिए बढ़ा दिया है। खेल यह है कि मोंसांटो का नाम बदनाम हो चुका था। इसलिए बेयर कंपनी ने इसे अपने नाम से बेचने का फैसला

किया है। डाउन टू अर्थ की इस रिपोर्ट में विस्तार से बताया गया है कि इसके बावजूद अनेक रिसर्च में इस रसायन से कैंसर होने और लीवर और किडनी नष्ट होने की बात की पुष्टि हुई है।

26 मार्च 2018 को महाराष्ट्र के यवतमाल जिले के कृषि विभाग ने Director, quality control, Pune को लिखा कि यवतमाल में तो चाय बागान नहीं हैं फिर यहां इस्तेमाल क्यों हो रहा है। हम अपने अधिकार क्षेत्र में इस नुकसानदेह रसायन का इस्तेमाल नहीं चाहते हैं इसलिए आप इस पर रोक लगाएं। वहां इसकी बिक्री पर अंकुश तो लगा है मगर किसान दूसरे जिले से खरीद कर ला रहे हैं। आंध्र प्रदेश भी इसके इस्तेमाल को कम करने के लिए प्रयास कर रहा है। मगर कई अड़चनें ऐसा होने नहीं दे रही हैं।

अब आते हैं एक दूसरी खबर पर। डाउन टू अर्थ की रिपोर्ट भी इसी खबर से शुरू होती है मगर तब तक कोर्ट का आदेश नहीं आया था। अमरीका की सैन फ्रांसिस्को की अदालत ने ग्लायफोसेट बनाने वाली कंपनी मोंसांटो पर 289 मिलियन डॉलर जुर्माना देने का फैसला सुनाया है। इस केस का ट्रायल काफी लंबा चला है। जजों ने एक एक बात को समझा है। वैज्ञानिक रिसर्च पर गौर किया है और यह भी देखा है कि मोंसांटो उन बातों को छिपाने के लिए क्या क्या जुगाड़ करता है। आप गार्डियन अखबार की रिपोर्ट पढ़ सकते हैं। इंटरनेट पर है।

46 साल के एक माली ने केस न किया होता तो इस कंपनी को इतना बड़ा दंड न मिलता और दुनिया के सामने इसकी सच्चाई सामने नहीं आती। एक स्कूल में काम करने वाला यह माली खर-पतवारों को मिटाने के लिए मोंसांटो के बनाए राउंडअप रसायन का छिड़काव करता था। उसे भयंकर किस्म का कैंसर हो गया। उसने मोंसांटो के खिलाफ मुकदमा लड़ा और इस रसायन के असर को दुनिया भर में छिपाने के खेल का पर्दाफाश कर दिया। अफसोस उस भयंकर बीमारी से माली बहुत दिनों तक नहीं बच सकेगा मगर उसने अपनी जिंदगी अरबों लोगों के नाम कर दी है जिनके बीच के लाखों लोग हर साल कैंसर के शिकार हो रहे हैं। और उन्हें लगता है कि यह सब राहु केतु की वक्र दृष्टि से हो रहा है।

साभार - <https://khabar.ndtv.com/>

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017